



मेरी अधिकतर कहानियां मनुष्य की है,  
व्यक्ति की नहीं  
मनुष्य में ही मेरी अधिक रुचि रही है  
उसके जीवन में जो झूठ  
और पाखण्ड मैंने देखा, सहा है,  
वही मेरी कहानियों में उभर आया है  
यथासम्भव मैंने इन कहानियों में  
सत्य को ही स्वर देने का  
प्रयत्न किया है,  
फिर चाहे वह किसीके विरुद्ध हो  
लेकिन ऐसा करते हुए  
मैंने मानव की सहज संवेदना  
अर्थात् सहज मानवीय संबंधों से  
मुक्ति पाने की चेष्टा नहीं की है  
ये कहानियां मैंने बड़े सहज भाव से लिखी है  
क्योंकि इनमें से प्रायः सभी के सत्य को  
मैंने सहा और भोगा है

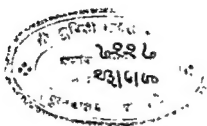
---

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली-६



विष्णु प्रभाकर

६२६  
कहाली



मेरी  
प्रिय  
कहानियाँ



पहला संस्करण ■ १९७० ■ मूल्य पांच रुपये

मेरी प्रिय कहानियां ■ कहानी-संकलन

लेखक ■ विष्णु प्रभाकर ©

प्रकाशक ■ राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मुद्रक ■ हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-६





## भूमिका

मैं नहीं जानता कि गण्डा की घण्टी मृष्टि में ऐसा कुछ भी लगता है जो उसे प्रिय न हो। जो उगता है, जो दिगी न किसी रूप में उगता होता है, वह उसे प्रिय होगा ही। कौन अधिक प्रिय है, कौन कम, यह बताना भी प्रायः असम्भव हो जाता है। इसलिए यदि मैं यह बताने में अपने को असमर्थ पाता हूँ कि मेरी प्रिय कहानियाँ कौन-सी हैं, तो मुझे बहुत दुःख नहीं होगा। मैं सभी का गण्डा हूँ, जनक भी, जननी भी। इसलिए सभी मुझे प्रिय हैं। लेकिन यह सब कुछ कह देने पर भी प्रश्न तो बना ही रहता है। मुझे अपनी प्रिय कहानियों का एक सक्कल तैयार करना ही है।

करने बैठा हूँ तो एक के बाद एक कहानी घोंगो के सामने उभर उठती है। मंदरा पचास तक पहुँच जाती है, लेकिन नहीं, इस सख्या को घटाना होगा। १६ से अधिक की गृहाह्न नहीं है। कौनो सुमीयत है? पर घाघेन का नाम तो होता ही है।

घोर उग घाघेन का परिणाम है यह सब। गहज भाव से यह सब कुछ नहीं हुआ है। इसलिए मेरा यह दावा भी नहीं है कि केवल घोर केवल ये ही कहानियाँ मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। हो सकता है निम्नी घोर सबसर पर मैं किसी दूसरी कहानियों को प्रिय कह बैठूँ।

हाँ, एक बात अवश्य कहूँगा—कुछ कहानियाँ मैंने ऐसी अवश्य लिगी



हैं, जिनके पीछे आग्रह मेरा नहीं था, लेकिन वैसे साहित्य को मैंने प्रायः ही स्वीकार नहीं किया है। पास भी नहीं रखा है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी कहानियां हो सकती हैं, जिनमें अपने-आपको जैसा मैं चाहता था वैसा व्यक्त नहीं कर पाया, पर लिखी वे अवश्य गई। वैसी कहानियां शायद मुझे प्रिय न लगें, पर उसमें भी अपराध मेरा ही है, कहानियों का नहीं।

यदि यह कहना अपने-आपमें कठिन है कि मेरी प्रिय कहानियां कौन-सी हैं, तो यह बताना तो प्रायः असम्भव है कि वे प्रिय क्यों हैं? कोई किसीको प्रेम क्यों करता है? क्या यह बताया जा सकता है? और क्या सचमुच प्रेम किया जाता है? वह तो हो जाता है। सो, मेरी ये कहानियां मुझे प्रिय हैं, अच्छी लगती हैं, इससे अधिक मैं कहना नहीं चाहूंगा।

लेकिन इससे क्या छुटकारा मिल जाता है? लेखक आज मात्र लेखक नहीं रह गया है, वह आलोचक भी है। इसीलिए उसे कटघरे में खड़ा करके उससे साधिकार पूछा गया है—बताना होगा तुम्हें ये कहानियां क्यों प्रिय हैं?

बताना होगा तो बताना ही होगा। अपने आलोचकों की चिन्ता किए बगैर मैं विश्वास के साथ इतना कह सकता हूँ कि मैंने हमेशा मानव की खोज में तीर्थ-यात्रा की है। मानव जो इसी धरती का है, अर्थात् जो यथार्थ को जीता है। यथार्थ के चित्रण के लिए भले ही मैं यथार्थवादी शैली का सहारा न ले सका होऊँ, उसे मैं आवश्यक भी नहीं मानता पर अन्ततः मेरा उद्देश्य यथार्थ को जीने वाले मानव की खोज ही रहा है। मेरी कला की असमर्थता, मेरी कामना की पगुंता नहीं है।

एक विदेशी लेखक ने मेरी अत्यन्त लोकप्रिय कहानी 'धरती अब भी घूम रही है' को प्रचार-मात्र बताते हुए, मुझे लिखा था कि कहानी व्यक्ति की होनी चाहिए। लेकिन मैं क्या करूँ? यह दोष मेरा नहीं युग का है। आज का युग व्यक्ति का है, मेरा मनुष्य का था। इसलिए मेरी अधिकतर कहानियां मनुष्य की हैं, व्यक्ति की नहीं। मनुष्य में ही मेरी अधिक रुचि



रही है। उसके जीवन में जो झूठ और पाखण्ड मैंने देखा-सहा है, वही मेरी कहानियों में उमर आया है। यह झूठ और पाखण्ड जीवन के हर स्तर पर है। इस संग्रह की ये साठ कहानियाँ उसका प्रमाण है: (१) धरती अब भी घूम रही है, (२) ठेका, (३) भोगा हुआ ययायं, (४) जहरत, (५) डोलक पर एक धाप, (६) स्तररूपा की मौत, (७) आकाश की छाया में और (८) एक रात : एक शव। इनका पाखण्ड-काल सापेक्ष नहीं है। निरवधि काल का पाखण्ड अर्थात् मानव-मन का पाखण्ड है। 'धरती अब भी घूम रही है' मात्र भ्रष्टाचार को चित्रित नहीं करती, उसके होने की गहराई में भी जाती है और मानवीय संवेदना को उभारती है। यह मान कल्पना नहीं है, आखें खुली रखने पर इसके पात्र जीवन में कहीं न कहीं आपके पास में गुजर जाते दिखाई देंगे। इसकी प्रेरणा की बात कहूँ। एक दिन ऐसे ही एक भफ्फर की चर्चा चल रही थी। पास में एक छोटी-सी बच्ची बैठी थी। सुनकर वह सहज भाव से बोली, "ताऊ जी, भफ्फर मृबमूरत सड़की को लेकर क्या करने हैं?"

सुनकर मैं काप उठा था और वह कम्पन में से अन्तर में उतर गया था। यह कहानी उसी कम्पन का परिणाम है। बच्चों को पाल में देखने और अध्ययन करने के भ्रमर मुझे मिले हैं। उनकी संवेदनशीलता और निरीक्षण करने की शक्ति से मैं प्रभावित हुआ हूँ। वे जो कुछ कह और कर जाने हैं, उसपर सहसा विश्वास नहीं होता। क्या यही बात इस कहानी के बच्चों के बारे में नहीं कही जा सकती?

इस कहानी की यमोगाथा देश की भीमा साथ गई, लेकिन 'ठेका' कहानी की मुषित्रों ने प्रायः उपेक्षा की है। यह उपेक्षा ही इसके प्रति मेरे प्रेम का एक और कारण बन गई। वैसे इसकी प्रसत्ता न हुई हो यह बात नहीं। एक बन्धु ने मुझे लिखा था—“भ्रमर आपने यह कहानी मुगल-काल में लिखी होनी तो आपके हाथ काट दिए जाते।”

कुछ और मित्रों ने भी इसे 'धरती अब भी घूम रही है' से श्रेष्ठ माना है, लेकिन यहां तो जहाँ मेरे प्रेम की है। आलोचकों ने निन्दा 'धरती



अब भी घूम रही है' की भी की है पर मुझे दोनों ही प्रिय हैं। 'भोगा हुआ यथार्थ' के हर पात्र से मैं परिचित रहा हूँ। कहूँगा, उस कहानी का एक पात्र मैं स्वयं भी हूँ। इससे अधिक इसके प्रिय होने का और क्या कारण हो सकता है? 'अरुण' एक और स्तर पर पनपने वाले पाखण्ड की कहानी है और एक सत्य घटना पर आधारित है। इस घटना की मार्मिकता ने मेरे मन को छुआ और उसीके परिणामस्वरूप इस कहानी का जन्म हुआ। 'ढोलक पर एक थाप' एक और स्तर को छूती है। नौकरशाही के पात्रों का दम्भ उसमें मूर्त हो सके, यही प्रयत्न मेरा रहा है। इसमें भी मैं एक पात्र के रूप में मौजूद हूँ। जहाँ मैं हूँ, वह मुझे प्रिय न होगा तो क्या होगा? 'शतरूपा की मौत' वास्तव में औरत की मौत है। 'ईश और हवा' का नाम ही शतरूपा है। इसके पात्रों को मैं अच्छी तरह पहचानता हूँ। और इसका 'मैं' मैं ही तो हूँ। लेकिन इस सबसे यह न समझ लिया जाए कि ये कहानियाँ किन्हीं व्यक्तियों के आस-पास जन्म लेती हैं। जैसा मैंने कहा, ये कहानियाँ व्यक्ति की नहीं, मनुष्य की हैं। 'आकाश की छाया में' के पात्रों से क्या आप अपरिचित हैं? लेखक के रूप में ही नहीं, व्यक्ति के रूप में भी मैं इन सब-से मिला हूँ। इसी प्रकार मिला हूँ 'एक रात: एक शव' के पात्रों से। समाज में फैले एक गुप्त कोड़ का चित्रण इसमें हुआ है।

मैं इन कहानियों के कहानीपन की चर्चा नहीं करना चाहूँगा। मैं तो इतना ही कहना चाहूँगा कि मैं इन कहानियों में रमा हूँ, इसीलिए ये सहज भाव से मेरी कलम पर उतर आई थीं और इसीलिए ये मुझे प्रिय हैं। मैं यह नहीं कहता कि ये सभी पात्र उसी तरह बरतते, भोगते थे, जिस तरह मैंने इन कहानियों में दिखाया है, परन्तु जो अन्तर है वह भौतिक शरीर का है, मन-आत्मा का जरा भी नहीं। सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मैंने नहीं बताया है। भले ही यथार्थ के साथ यत्किंचित् अन्धारा हो गया हो। आखिर मैंने कहानियाँ लिखी हैं दैनिक पत्रों के लिए रिपोर्ट नहीं।

आज का युग पीढ़ियों के संघर्ष का युग है। यह संघर्ष अपने युग में



हमने भी सहा है, पर भाज जैसे वह चरम परिणति पर पहुँच रहा है। भीड़ बढ़ जाने के कारण अस्तित्व का सघर्ष जो है। इस संग्रह की तीन कहानियाँ (१) बेमाता, (२) खिलीने, (३) फास्सिल, इंसान और... किसी न किसी रूप में उसी सघर्ष को चित्रित करती है। यथासम्भव मैंने इन कहानियों में सत्य को ही स्वर देने का प्रयत्न किया है, फिर चाहे वह किसीके विरुद्ध हो। लेकिन ऐसा करते हुए मैंने मानव की सहज संवेदना अर्थात् सहज मानवीय सम्बन्धों से मुक्ति पाने की चेष्टा नहीं की है। समन्वय और सहयोग में मेरा विश्वास है। बिना एक-दूसरे को समझे वह सम्भव नहीं हो सकता। वही नम्र किस्म किसी न किसी रूप में इन कहानियों में लाने का मैंने प्रयत्न किया है। 'प्रयत्न' शब्द शायद गलत है। किया मैंने कुछ भी नहीं। जो अन्तर में था वही तो उतर आया है। इसीलिए ये कहानियाँ मुझे प्रिय हैं। इन कहानियों के बुजुर्ग बुजुर्ग होकर भी समझने की चेष्टा करते दिखाई देते हैं। जहाँ दर्प है, वह भी सृजनात्मक है। मैं जो हूँ वह हूँ। वही बात मेरे सृजन में प्रकट हुई है; जहाँ जितने सहज भाव से प्रकट हुई उतनी ही अधिक वह मेरे प्रेम का कारण बनी है। 'बेमाता' पाठकों में काफी लोकप्रिय हुई। लेकिन एक प्रबुद्ध आलोचक ने इसे निरुपेक्षितम बताया। इससे मेरा प्रेम घटा नहीं और भी बढ़ा।

इस संग्रह की दोष कहानियाँ नारीपन के रहस्यों को विभिन्न स्तरों पर उजागर करती है। 'राजम्मा', 'अभाव', 'नागकास', 'शरीर से परे', 'एक और दुराचारिणी' सभी के पात्र मेरे सामने जीने-जागने उपस्थित रहते हैं। 'अभाव' और 'नागकास' में नारी या के रूप में उतरी है। दोनों ही कहानियाँ व्यक्तिवाचक नहीं हैं, जातिवाचक हैं। 'राजम्मा' व्यक्ति हो सकती है, पर इसी कारण झूठी नहीं है। मुझे उससे पूरी सहानुभूति है। मैं उससे प्रत्यक्ष नहीं मिला, पर जिस मार्ग में वह मुझ तक पहुँची वह प्रत्यक्ष मिलने जैसा ही था। इसी तरह 'शरीर से परे' की रश्मि को मैंने पूरी संवेदना दी है। दिए बिना रह नहीं सका। उससे मैं मिला भी हूँ। मैं स्वयं इस कहानी का एक पात्र हूँ। इसका प्रेम यथार्थवादी नहीं है, पर सत्य



अवश्य है। अल्पमत के कारण वह भूटा हो जाएगा, वह मैं नहीं मानता। अन्तर्राष्ट्रीय कहानी-प्रतियोगिता में हिन्दी में इसे प्रथम पुरस्कार मिला था। कुछ आलोचकों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की, कुछ ने उतनी ही निन्दा। पाठक भी इसी प्रकार विभाजित थे। एक पाठक ने तो मुझे जान से मार डालने तक की धमकी दे डाली थी, क्योंकि उसकी राय में मैंने भारतीय संस्कृति पर प्रहार किया था। यह आरोप तो 'एक और दुराचारिणी' पर भी लगाया जा सकता है पर मेरी दृष्टि में वह घृणा की नहीं कटुता और सहानुभूति की पात्र है। यह कहानी पढ़कर आप भी मुझसे सहमत होंगे। वही सहानुभूति मैंने उसे दी है। कहूंगा यह कहानी प्रायः सत्य ही है।

मैं जानता हूँ कि मैं आपके प्रश्न का उत्तर अब भी अच्छी तरह नहीं दे पाया। अपने वचाव में विस्लेषण करने बैठ गया। अपना यह अपराध मुझे स्वीकार करना ही होगा, लेकिन इस अपराध पर मैं लज्जित नहीं हूँ। मैंने अपनी बात कह दी है। इसे मोह कहा जा सकता है। जहाँ तक आप पाठकों का सम्बन्ध है, लगभग सभी कहानियों को आपने प्यार दिया है। किसीको कम किसीको ज्यादा। उस सम्बन्ध में मुझे कोई शिकायत नहीं। मैं जो हूँ, वही तो रहूंगा। जैसा मैंने बार-बार कहा है, मैंने ये सभी कहानियाँ बड़े सहज भाव से लिखी हैं, क्योंकि इनमें से प्रायः सभीके सत्य को मैंने सहा और भोगा है। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कहना चाहूंगा।

३० जनवरी, १९७०

८१८, कुण्डेवालान,

अजमेरी गेट, दिल्ली-६

—विष्णु प्रभाकर



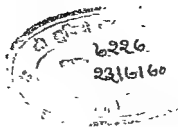
## क्रम

|                        |     |
|------------------------|-----|
| धरती सब भी धूम रही है  | १३  |
| ठेका                   | २३  |
| भोगा हुआ यद्यार्थ      | ३०  |
| बेमाता                 | ४८  |
| जूरुरत                 | ६४  |
| राजम्मा                | ७१  |
| ढोलक पर घाप            | ८२  |
| सितोने                 | ८४  |
| फास्टिन, इन्सान धीर... | १०८ |
| समाव                   | ११६ |
| सतरुपा की मौन          | १२६ |
| साजान की छाया में      | १३८ |
| नाय-फांस               | १४५ |
| शरीर से घरे            | १५७ |
| एक रात : एक सब         | १७७ |
| एक और दुराचारिणी       | १८६ |









## धरती अब भी घूम रही है

प्राप्तु नीता की दस वर्ष की भी नहीं थी लेकिन बुद्धि काफी प्रौढ़ हो गई थी। जैसा कि अवसर मातृहोन बालिबाधा के साथ होता है, बुजुर्गी ने उसके लिए प्राप्तु का बन्धन ढीला कर दिया था। इसलिए अब उसने सुना कि कुछ दूर पर सोया हुआ उसका छोटा भाई सुबक रहा है, तो वह चुपचाप उठी। एक क्षण भवानुरदृष्टि से चारों ओर देखा, फिर उसके पास आकर बैठ गई।

तब रात आधी बीत चुकी थी और चार बभी का अस्त हो चुका था, फिर भी कुछ दूर पर सोते हुए उनके मोमा के परिवार के दूध-से घुले कपड़े अन्धकार की कालस में चमक रहे थे जैसे तममावृत श्मशान में अग्नि के स्फुलिंग। वही चमक नीता के नन्हे-से दिम में कमक उठी। किसी तरह रत्ताई रोककर उसने धीरे से पुकारा, “कमल • ओ कमल....।”

कमल आठवें वर्ष में अवन रहा था। उसके छोटे-से खटोले पर एक कटोरी-सी दरी बिछी थी। उसपर वह लेटा था मुहमुड़, पैर उसने पेट से सटा रने थे और मुह की हाथों से ढाँ रखा था। रह-रहकर उसका पेट सिकुरता और सुबकिया निकल जाती। उसने बहिन की पुकार का कोई जवाब नहीं दिया। नीता भी इनती सहमी हुई थी कि दूसरी बार पुकारने का साहस न बटोर पाई। चुपचाप कमर सहमाती रही, देखती रही। कई क्षण बीत



## १४ मेरी प्रिय कहानियां

गए तो उसे सीधा करके उसका मुंह अपने दोनों हाथों में ले लिया। तब उसकी आंखें डबडबा आई और आंसू ढुलककर कमल के मुख पर जा गिरे। कमल कुनमुनाया, फिर आंखें बन्द किए-किए बोला, “जीजी !”

नीना ने चौंककर कहा, “तू जाग रहा था रे ?”

“नींद नहीं आती...जीजी, पिताजी कब आएंगे ? जीजी, पिताजी के पास चलो।”

“पिताजी...!”

“हां जीजी ! ...पिताजी के पास चलो। आज मुझे मौसाजी ने मारा था। जीजी, गिलास तोड़ा तो प्रदीप ने और मारा हमें...जीजी, यहां से चलो।”

नीना ने अनुभव किया कि कमल अब रोया, अब रोया। वह बिह्वल हो उठी। उसने अपना मुंह उसके मुंह पर रख दिया और दोनों हाथों से उसे अपने वक्ष में समेटकर वह ‘शिशु-मां’ वहीं लेट गई। बोली वह कुछ नहीं। बस, उस स्तब्ध वातावरण में उसे जोर-जोर से थपथपाती रही और वह सुबकता रहा, बोलता रहा, “जीजी ! आज मौसी ने हमें बासी रोटी दी। सारा हलुआ प्रदीप और रंजन को दे दिया और हमें बस खुरचन दी; और जीजी, जब दोपहर को हम मौसाजी के कमरे में गए तो हमें घुड़क-कर निकाल दिया। जीजी, वहां हमें क्यों नहीं जाने देते ? जीजी, तुम स्कूल से जल्दी आ जाया करो। जीजी, पिताजी को जेल में क्यों बन्द कर दिया ? वहां पिताजी को रोटी कौन खिलाता है ? हम वहां क्यों नहीं रहते ? प्रदीप कहता था, तेरे पिताजी चोर हैं।...”

तब एकवारगी अपने को धोखा देती हुई नीना जोर से बोल उठी, “प्रदीप भूठा है।”

और कहकर अपनी ही आवाज पर वह भय से थर-थर कांप आई। उसने कमल को जोर से अपने में भींच लिया। कमल को लगा जैसे जीजी बड़े जोर से हिल रही है, हिलती जा रही है, हिलती चली जा रही है। हालन आ गया क्या ? उसने घबराकर कहा, “जीजी, जीजी, क्या है ?”



तुम्हें बुझार आ गया है ?”

“चुप, चुप। मौसो आ रही है।”

मचमुच कोई उठकर जल्दी-जल्दी उनके पास आया और कड़ककर पूछा, “क्या है, क्या है नीना, कमल, क्या है रे ? ...ओहो ! माई से साठ लड़ाया जा रहा है ! मैं कहती हूँ नीना ! तू यहां क्यों आई ? भरी बोनती क्यों नहीं ? ...ओहो, बड़े बेचारे गहरी नींद में सोए हैं ! अभी तो बड़ी गुटर-गुटर मेरी निकायत हो रही थी ! जैसे मैं जानती ही नहीं ... हाय रे मेरी किस्मत ! ...ओ बहिन ! तू खुद तो भर गई, पर मुझे इस नरक में छोड़ गई...”

सहसा मौसा हड़बड़ाकर उठ बैठे; पूछा, “क्या बात है ? क्या हुआ ?”

“हुमा मेरा भिर। दोनो भागने की सलाह कर रहे हैं।”

“कौन भागने की सलाह कर रहा है ? नीना-कमल ? भरे, कुछ लिखा तो नहीं ? धनमारी की चाबी तो है ? रात ही तो पाच सी रुपये लाकर रखे हैं। भरे, तुम बोनती क्यों नहीं ? क्यों री नीना ! कहाँ है रुपया ?”

बोलते-बोलते मौसा उठकर वहीं आ गए, जहां दोनों बच्चे एक-दूसरे में निमटे, मकपकाए, कबूतर की तरह आलस बन्द किए पड़े थे। मौसी ने तुनककर कहा, “क्या पता क्या-क्या निकालते, वह तो मेरी आंख खुल गई।”

और फिर मपटकर नीना को उठाते हुए कहा, “बस अपनी खाट पर। खबरदार जो पास गौए ! बाप तो आराम से जेस में जा बैठा, मुसीबत डाल गया मुझपर ! न लाती तो दुनिया मुह पर झुक्ती, बहिन के बच्चे थे। शहर की शहर में आशों में मिहाज न आई। लेकिन कहने वाले यह नहीं देखते कि हमारे घर में क्या सोने-चांदी की खान है ? क्या खर्च नहीं होना ? प्यारी किननी महंगी हो गई है और फिर बच्चों की खुराक बड़ों में ज्यादा हो गई।”

रामे नहीं निकाले, इस बान से मौसा को परम सन्तोष हुआ। उन्होंने खाट पर बैठते हुए कहा, “मैं बहता हूँ तुम तो...”



## १६ मेरी प्रिय कहानियां

“अब चुप रहो। भले ही चचेरी बहिन हो, हैं तो मेरी बहिन के वच्चे।”

“हां, तुम्हारी बहिन के वच्चे हैं तभी तो वहनोई साहब को रिश्वत लेने की सूझी और रिश्वत भी क्या ली, बीस रुपये की। वह भी लेनी नहीं आई। रंगे हाथों पकड़े गए। हूं, मैं रात पांच सौ लाया हूं। कोई कह दे, साबित कर दे।”

“इतनी बुद्धि होती तो क्या अब तक नीचे दर्जे का क्लर्क बना रहता!”

“और मजा यह कि जब मैंने कहा कि तीन सौ, चार सौ रुपये का प्रबन्ध कर दे, तुम्हें छुड़ाने का जिम्मा मेरा, तो सत्यवादी बन गए—मैं रिश्वत नहीं दूंगा। नहीं दूंगा तो ली क्यों थी? अरे लेते हो तो दो भी। मैं तो...”

मौसी ने सहसा धीमे पड़ते हुए कहा, “चुप भी करो, रात का वक्त है। आवाज बहुत दूर तक जाती है...”

काफी देर वड़वड़ाने के बाद जब वे फिर सो गए, तो दोनों बालक तब भी जागते पड़े थे। आंखों की नींद आंसू बनकर उनके गालों पर जमती जा रही थी। और उसके धुंधले परदे पर बहुत-से चित्र अनायास ही उभरते आ रहे थे। एक चित्र मौसी का था जो उन्हें रोते-रोते घर लाई थी और वह प्रेम दर्शाया था कि वे भी रो-रोकर पागल हो गए थे। लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतते गए, प्यार घटता गया और दया बढ़ती गई। दया जो ऊंच-नीच और दम्भ की जननी है। उसने उन्हें आज पशु से भी तिरस्कृत बना दिया...

एक चित्र मौसा का था जो तीसरे-चौथे बहुत-से नोट लेकर आते और उन्हें लक्ष्य करके कहते, “मैं कहता हूं कि उसने रिश्वत ली तो दी क्यों नहीं? अरे तीन सौ देने पड़ते तो पांच सौ बटोरने का मार्ग भी तो खुलता...”

एक चित्र पिता का था। पिता जो प्यार करता था, पिता जिसने रिश्वत ली थी, पिता जिसे जल में वन्द हुए दो महीने बीत चुके थे और



अभी सात महीने दोप थे --

मीना ने सहसा दोनों हाथों से धपना मुँह भीच लिया। उसकी सुबकी निकलने वाली थी। उसने मन ही मन विह्वल-विह्वल होकर कहा, पिताजी! धब नहीं सहा जाता। धब नहीं सहा जाता। मौसा तुम्हारे कमल को पीटते हैं। पिताजी, गुप धा जाओ। धब हम उम स्तूप में नहीं पड़ेंगे। धब हम चड़िया कपड़े नहीं पहनेंगे। पिताजी, तुमने रिकवर्न मी थी तो देने क्यों नहीं... क्यों... क्यों --

इस प्रकार मोचने-सोचते उसकी अन्दर धातो के धपकार में पिता की मूर्ति घीर भी बिगलन हो उठी -- एक अर्ध-व्यक्ति की मूर्ति, जिसकी छाँवों में प्यार था, जिसकी धापी में मिठाई थी, जिसने दोनों बच्चों को मये स्कूल में भर्ती करवा रखा था; जहाँ उन्हें कोई मारता-भिडकता नहीं था, जहाँ मारना मिलाता था, जहाँ वे तम्बोरों काटने थे, गिनती बताने थे --

घीर पर में पिता उनके लिए गाना बनाना था, धपती-धपती गानों में साता था, फल साता था। उसकी माँ के मरने पर उगने दूसरी धापी तक नहीं की थी --

मीना ने ये सब बातें पड़ोसियों के मुँह मुनी। ये सब उसके पिता की बड़ी तारीफ करने। उसने अपने बानों से पिता की यह कहने सुना था कि रिकवर्न लेना पाप है। लेकिन फिर उन्होंने रिकवर्न मी... क्यों मी... धातिर क्यों...?

पड़ोसिन बहनी, "उसका गर्भ बहुत बड़ा, घीर धादमी कम। बच्चे बच्चों को धपती गिना दिखाना चाहता था, घीर गुप जानो धपती गिना बहुत महंगी है..."

महंगी... महंगी की तो उसने रिकवर्न मी। महंगी होना बड़ा होता है... घीर धब पिता बँते छूँगे? मौसा बड़े थे, "बच्चे को रिकवर्न देते तो छूट जाते। एक बच्चे ने तीन हजार लेकर एक शब्द को छोड़ दिया था। एक धादमी जिसने एक घीर को मार डाला था, उसे भी धब ने छोड़ दिया था। पाँच हजार लिए थे..." पाँच हजार बिजने होते हैं? तो... हरार...



## १८ मेरी प्रिय कहानियां

दस...हजार...लाख...ये कितने होते हैं...

मोसा कहते थे, "रिश्वत और तरह की भी होती है। एक प्रोफेसर ने एक लड़की को एम० ए० में अव्वल कर दिया था क्योंकि वह खूबसूरत थी..."

नीना ने सहसा दृष्टि उठाकर आसमान में देखा। तारे जगमगा रहे थे और आकाश-गंगा का स्रोत घबल ज्योत्स्ना में लिपटा पड़ा था। उसने सोचा, यह सब कितना सुन्दर है! क्या यहां भी रिश्वत चलती है?

उसकी सुबकियां अब बिलकुल वन्द हो चुकी थीं और वह बड़ी गम्भीरता से सुनी-सुनाई बातों को याद कर रही थी, पर समझ में उसकी कुछ नहीं आ रहा था...खूबसूरत होना भी क्या रिश्वत है? मोसा कहते थे कि गंजे हाकिम के पास खूबसूरत लड़की भेज दो और कुछ भी करवा लो...खूबसूरत लड़की और रुपया, रुपया और खूबसूरत लड़की—इन्हें लेकर जज और हाकिम काम क्यों कर देते हैं? क्यों...क्यों...और खूबसूरत लड़की का वे क्या करते हैं? काम करवाते होंगे, पर काम तो सभी करते हैं...फिर खूबसूरत लड़की ही क्या? ...और उसके मोसा बहुत-से रुपये लाते हैं, पर लड़की कभी नहीं लाते...

उसकी समझ में कुछ नहीं आया। लेकिन इसी उधेड़-बुन में रात न जाने कहां चली गई, यह जाना न जा सका। एकाएक मौसी की पुकार ने उसकी तन्द्रा को तोड़ दिया। हड़बड़ाकर आंखें खोलीं तो मौसी कह रही थी, "नीना, ओ नीना! अरी नहीं उठेगी? पांच वजे हैं।"

पांच...! अभी तो पहरूआ तीन की आवाज लगा रहा था और आकाश-गंगा का मार्ग कैसा चमचम कर रहा था! इसी रास्ते तो स्वर्ग जाते हैं।

मौसी फिर चीखी, "अरी सुना नहीं नीना? कब से पुकार रही हूं। दोनों भाई-बहिन कुम्भकर्ण से बाजी लगाकर सोते हैं। चल जल्दी। चौका-वासन कर। मैं आती हूं..."

नीना ने अब अंगड़ाई लेने का नाट्य किया। फिर कुनमुनाती हुई उठी,



“जा रही हूँ मौसी।”

जीने तक जाकर न जाने उसे क्या याद आया, वह कमल के पास गई और बड़े प्यार से कान से मुह लगाकर उसे पुकारा। फिर उत्तर की प्रतीक्षा न करके उस कोली में समेटकर नीचे लिए चली गई।

और जब दो घंटे बाद मौसी नीचे उतरी तो स्तब्ध रह जाना पड़ा। रसोईघर जैसे दूध में घोया गया हो। मकदक-मकदक, भैंस की कहीं छाया तक नहीं। घर्तन घादी-से चमचमा रहे थे। बार-बार भविष्यवासी से भाजें मगकर ठगी-सी मौसी बोली, “भाज क्या बात है नीना ?”

“कुछ नहीं मौसी।” नीना से सकपकाकर उत्तर दिया।

“कुछ नहीं कैसे ? ऐसा काम क्या तू रोज करती है ?”

कमल ने एकदम कहा, “मौसी ! भाज पिताजी आयेगे।”

“पिताजी...।”

मौसी ने भविष्यवाणी और आशंका से ऐसे देखा कि कमल सहमकर पीछे हट गया। कई क्षण उस स्तब्ध वातावरण में वे प्रस्तर-प्रतिमा बने रहे, फिर जैसे जागकर मौसी बोली, “तो यह बात है ! बाप के स्वागत के लिए रसोईघर सजाया गया है !”

फिर एकाधरगी बड़े जोर से हसी ; बोली, “पर रानीजी, अभी तो पूरे सात महीने बाकी हैं, सात महीने। बाह रे, बाप के लिए दिल में कितना दर्द है ! इसका पामन भी हमारे लिए होता तो...”

नीना की काया एकाएक पीली पड़ गई। आग्नेय नेत्रों से कमल की ओर देखती हुई वह बहा से चली गई। उस दृष्टि से कमल सहम गया पर उसे अपने अपराध का पता तब लगा जब वह हो चुका था। स्कूल आते समय रास्ते में नीना ने इस अपराध के लिए कमल को खूब डाटा। इतना डाटा कि वह रो पड़ा। रो पड़ा तो उसे छाती से लगाकर खुद भी रोने लगी।

इसी समय वहां से बहुत दूर एक मुमज्जित भवन में मुक्त भट्टहास



गूँज रहा था। छोटे न्यायमूर्ति आज विशेष प्रमत्न थे। उनकी छोटी पुत्री मनमोहिनी को कमीशन ने सांस्कृतिक विभाग में डिप्टी डायरेक्टर के पद के लिए चुन लिया था। मित्र बधाई देने आए हुए थे। उसी हर्ष का यह अट्ट-हास था। यद्यपि वाकायदा चाय-पार्टी का कोई प्रबन्ध नहीं था, तो भी मेज पर अच्छी भीड़भाड़ थी। अंग्रेज लोग चाय पीते समय बोलना पसन्द नहीं करते थे, पर भारतवासी क्या अब भी उनके गुलाम हैं! वे लोग जोर-जोर से बातें करते थे। मनमोहिनी ने चाय पीते हुए कहा, “मुझे तो आशा नहीं थी, पर सचिव साहब की कृपा को क्या कहूँ...!”

सचिव साहब बोले, “मेरी कृपा! आपको कोई ‘न’ तो कर दे? आपकी प्रतिभा...”

डायरेक्टर कह उठे, “हां, इनकी प्रतिभा! सांस्कृतिक विभाग तो है ही नारी की प्रतिभा का क्षेत्र।”

सचिव साहब के नेत्र जैसे विस्फारित हो आए। प्याले को ठक् से मेज पर रखते हुए उन्होंने कहा, “क्या बात कही है आपने! ...संस्कृति और नारी दोनों एक ही हैं। नाट्य, नृत्य, संगीत और कविता...”

“और प्रचार?”

“अरे, नारी से अधिक प्रचार कर पाया है कोई!”

इसी समय बैरे ने आकर सलाम भुकाई। तार आया था। खोलने पर जाना—छोटे न्यायमूर्ति के बड़े बेटे की नियुक्ति इन्कमटैक्स आफिसर के पद पर हो गई है। उसे मद्रास जाना होगा।

“क्या, क्या,”—कहते हुए सब तार पर झपटे। हर्ष और भी मुखर हो उठा। छोटे जज ने अट्टहास करते हुए अपनी पत्नी से कहा, “देखा निर्मल! मुझे विश्वास था, शर्मा मेरी बात नहीं टाल सकता। और मेरी बात भी क्या! असल में वह तुम्हारा मुरीद है। कहता था औरत...”

बात काटकर सचिव साहब बोले, “जी नहीं, यह न आप हैं और न श्रीमती निर्मल। यह तो आपकी कौटुम्बिक प्रतिभा है।”



इसपर सबने स्वीकृतिपूर्वक हर्ष-ध्वनि की। छोटे न्यायमूर्ति इसका प्रतिवाद कर पाने कि बेरे ने आकर फिर सलाम किया। विस्मित-से डायरेक्टर बोले, "इस बार किसकी नियुक्ति होने वाली है?"

बेरे ने कहा, "दो बच्चे हज़ूर से मिलने आए हैं।"

"हमसे?" न्यायमूर्ति प्रश्नचिह्न कर बोले।

"जी।"

"किसके बच्चे हैं?"

'जी, मालूम नहीं। भार्द-बहिन हैं। गरीब जान पड़ते हैं।"

"मरे ली बेकफू! कुछ दे-दिवाकर लौटा दिया होना।"

"बहुत कोशिश की, पर वे कुछ मागते ही नहीं। वस, आपसे मिलना मागते हैं।"

छोटे न्यायमूर्ति तेजी से उठे। मुँह उनका बिह्वल हो आया, पर न जाने क्या सोचकर वे फिर बैठ गए। कहा, "आज खुशी का दिन है। यहीं से आ।"

दो धाग धाद, दुरी तरह गहमे-मकपकाए जिन दो बच्चों ने वहाँ प्रवेश किया वे भीना और कमल थे। आमुष्मो के दाग धाभी गालों पर रोप थे। दृष्टि से भय भरा पड़ता था। एकसाथ सबने उनको देखा जैसे मंदिरा के प्याले में मक्खी पड़ गई हो। छोटे न्यायमूर्ति ने पूछा, "बहाँ से आए हो?"

"जी...जी..." भीना ने कहना चाहा पर झूठ से लवर नहीं निकले और वावजूद सबके आश्चर्यजनक के के कई क्षण हतप्रभ, विमूढ़, धनसक देगते हो रहे, वस देगते ही रहे। आगिर मनमोहिनी उठी। पाम आकर बोली, 'कितने प्यारे, कितने सुन्दर बच्चे हैं...।"

इत दागो मे न जाने क्या था। भीना को जेने बरट छु गई। एक-बारगी दूध पण्ड से बोल उठी, "आपने हमारे पिताजी को जेल भेजा है। आप उन्हें छोड़ दें..."

कमल ने उगी दुइता से कहा, "हमारे पाम पचाम रन्ने है। आपने



## २२ मेरी प्रिय कहानियां

तीन हजार लेकर एक डाकू को छोड़ा है.....”

नीना बोली, “लेकिन हमारे पिताजी डाकू नहीं हैं। महंगाई बढ़ गई थी। उन्होंने बीम रुपये की रिश्तत ली थी।”

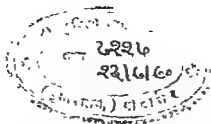
कमल ने कहा, “रुपये थोड़े हों तो...”

नीना बोली, “नो मैं एक-दो दिन आपके पाग रह सकती हूं।”

कमल ने कहा, “मेरी जीजी खूबमूरत है और आप खूबमूरत लड़कियों को लेकर काम कर देते हैं.....”

रटे हुए पार्ट की तरह एक के बाद एक जब वे दोनों इस प्रकार बोल रहे थे तो न जाने हमारे कथाकार को क्या हुआ; वह वहां से भाग खड़ा हुआ। उसे ऐसा लगा जैसे घरती सूर्य की चुम्बक-शक्ति से अलग हो रही है। लेकिन ऐसा होता तो क्या हम यह ‘पुनश्च’ लिखने को बाकी रहते? घरती अब भी उसी तरह घूम रही है।





## ठेका

धीरे-धीरे बहुराशों का घोर घात हो चला घोर मेहुमान एक-एक करके बिदा होने लगे। लकड़क करती ठेकेदारों की फँसनेवन बीविया घोर झपने को अब भी जवान मानने वाली छोटे घकमरो को सघेड परबानिया, ममी ही-ही करनी, चमकती, इठलाती खती गई, लेकिन रोशनमान की ममी तब तक घाई भी नहीं। वह कई बार बीच में से उठकर होटल के बाहर गया। साने-पीने, बातें करने, उसको दृष्टि बराबर द्वार की घोर मगी रही पर सन्तोष उसे नहीं दिखाई दी, नहीं दिखाई दी। यह जान नहीं कि सन्तोष को हम पार्टी का पना नहीं था, हमके बिपरीत अपने रोशनमान को कई बार हम पार्टी की माद दिखाई थी। घात्र मंझे अपने विशेष रूप से कहा था, "राजबिघोर घाम को बेगर मे पार्टी दे रहे हैं। भुनिग्गा नहीं।"

"तुम नहीं खतोमी?"

"क्यों नहीं खतूमी, लेकिन घात्र मे माय न खन सकूमी।"

"क्यों?"

"मुझे अपनी एक सहेली मे मिलना है। मैं वहीं जा जाऊंगी।"

घोर इनने पर भी वह नहीं घाई। वह पार्टी को घोरनी है, बिरोध-कर होटल में ही कई पार्टी मे वह भी काम छोडकर जाती है। रोशन का



## २४ मेरी प्रिय कहानियाँ

मन खट्टा होने लगा। उसे क्रोध भी आया, पर ऊपर से वह शांत बना रहा। यही नहीं, उसने कहकहे लगाए और जैसा कि पार्टियों में होता है, उसने उपस्थित नारियों के बारे में अपनी बेलाग राय भी प्रकट की, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर नुक्ताचीनी की, पर अपनी पत्नी की अनुपस्थिति के बारे में वह किसीका समाधान न कर पाया।

एक मित्र ने चुटकी लेते हुए कहा, “रोशन और सन्तोष आदर्श दम्पती हैं। एक-दूसरे के काम में बिलकुल दखल नहीं देते।”

दूसरे बोले, “देना भी नहीं चाहिए। पति-पत्नी दोनों बराबर के साथी-दार हैं।”

तीसरे ठेकेदार मित्र कुछ गम्भीर थे। कहने लगे, “यह तो ठीक है लेकिन स्त्री आखिर स्त्री है। उसे ढील चाहे कितनी दो पर रस्ती अपने ही हाथ में रखनी चाहिए।”

इसपर एक कहकहा लगा और वही कहकहा रोशन की छाती में झूल की तरह कसक उठा। उस क्षण आवेग के कारण वह कांपने लगा, मुख तमतमा आया और उसने चाहा कि वह भाग जाए। पर यह सब अतिरेक था। प्रकट में वह भी मुक्त भाव से हंसा और बोला, “जी नहीं, मैं मदारी नहीं हूँ जो बन्दरिया को नचाया करूँ।”

कहकहों की आवाज और भी तेज हो उठी और उसीके बीच एक महिला ने कहा, “होशियार रहिए। यह जनतन्त्र का युग है। इसमें बन्दरिया मदारी को नचाने लगी है।”

“कोई अन्तर नहीं। दोनों रस्ती में बंधे हुए हैं और दोनों समझते हैं कि वे एक-दूसरे को नचा रहे हैं,” एक और साथी अट्टहास बखेरते हुए बोल उठे।

“बेशक आप ठीक कहते हैं। इसीका नाम विवाह है, और विवाह एक ठेका है।”

वह सज्जन अपना वाक्य पूरा कर पाते कि दूसरी अपेक्षाकृत युवती महिला तीव्रता से बोल उठी, “खाक है, आप लोगों के ऐसे विचार हैं तभी



तो तलाक की जल्दत पड़ी। नारी अब पुरुष की दासी नहीं रह सकती..."

धीरे वह वहाँ से उठकर चली गई। जैसे कहवहो की पाला मार गया हो। उस मेड़ की महफिल फिर नहीं जमी। दूसरी मेड़ों पर उमी तरह विलविलाहट उठती रही पर रोशन का मन नहीं लगा। उगने चाहा कि सुरंग उठकर चला जाए पर शायद सन्तोष अब भी धा जाए, दूरी लाने में वह अन्त तक रुका रहा और जब उसने राजकिशोर की उसकी पत्नी दयामा से विदा ली तो राजकिशोर ने पूछ ही लिया, "बाखिर सन्तोष रही क्या ?"

रोशन बोला, "समझ में नहीं आता। जाने का पक्का बायदा करके गई थी। शायद..."

दयामा हस पड़ी, "शायद आपको मानूस नहीं। मैंने आज उन्हें साहब के साथ देखा था।"

"मिस्टर वर्मा के साथ ?"

"जी हाँ।"

रोशन के मुख की मालिमा सहसा पीली पड़ गई। राजकिशोर ने झुंझपाकर दयामा की ओर देखा, मुस्कगया मानों बहना हो, "ओह, लो यह बात है।" फिर रोशन से कहा, "कुछ भी हो। उसे जाना चाहिए था। मैं बहुत नाराज हूँ। उसने कह देना, समझे।"

रोशन ने विली तरह हसने हुए कहा, "बह दूगा जनाब।"

धीरे वह एक भटके के साथ अपने की मुद्राकर बहा में नीचे उतर गया। उमीके साथ राजकिशोर की दयामा की गलारत-मरी हमी भी उतरी। धगर वह मुन दाना तो दयामा कह रही थी, "सन्तोष मुझे पराडिड करना चाहती है पर..."

लेकिन रोशन कुछ भी सुनने की न्धिनि में न था। उसका मन-मन झुलन रहा था और धावेन के कारण धीरे डगमगा रहे थे। धीरे के कारण या गानि के, कुछ पता नहीं। पर वह बिचारी के नृपन में पन दना था। जन्हीमें उनम-उमधर उसकी बुद्धि बार-बार मगमगा पड़ती थी — "बह



क्यों नहीं आई। आखिर क्यों? क्या वह सचमुच वर्मा के साथ थी? सच-मुच...लेकिन उसने मुझसे क्यों नहीं कहा? मुझसे क्यों छिपाया? क्यों, आखिर क्यों? उसका इतना साहस कैसे हुआ? कैसे...

अन्तिम वाक्य उसने इनने जोर से कहा कि वह स्वयं चींक पड़ा। आस-पासवाले व्यक्ति उसे अचरज से देखने लगे, पर दूसरे ही क्षण वह फिर तूफान में खो गया। वह जानता है कि सन्तोष बड़ी सामाजिक है। खूब मिलती-जुलती है। सरकारी विभागों के प्रमुख कर्मचारियों से उसकी काफी रवण-जवत है। इसका प्रारम्भ उसीने तो कराया था। नहीं तो वह इतनी लजीजी थी कि उसके सामने भी नयन नहीं उठाती थी...

वह कांप उठा। एक के बाद एक सिहरन तरंग की भांति एड़ी से उठती और उसे मस्तिष्क तक भनभना देती। वह फुसफुसाया—इस सामाजिकता से उन्हें कितना लाभ हुआ है लेकिन...सन्तोष उससे छिपकर कभी किसीसे नहीं मिलती। कभी उससे कुछ नहीं छिपाती। कभी उससे दूर नहीं जाती। हां, कभी उससे दूर नहीं जाती। जो कुछ करती है, उसके कहने से करती है। सन्तोष उसीकी है। सन्तोष रोशन की है...

“नहीं नहीं”, वह चीख उठा, “राजकिशोर मुस्करा रहा था। उसकी मुस्कराहट का साफ यही मतलब था कि सन्तोष मेरी चिंता नहीं करती। मुझसे छिपकर अफसरों से मिलती है। मुझे धोखा देती है, चराती है, हर-जार्ड है...”

वह तेजा से दौड़ने लगा। उसके हाथ कुलबुलाने लगे। वह किसीका गला घोटने को आतुर हो उठा। उसने न तांगेवाले की पुकार पर ध्यान दिया न बस के अड्डे पर रुका। अभी गर्मी नहीं आई थी। मार्च की सध्या हल्की-हल्की शीतलता से महकती आ रही थी पर वह पसीने से तर था। घर न जाकर वह यत्र की भांति मथुरा रोड की ओर मुड़ गया। अभी वहां कुछ हरियाली शेष थी। रेल का पुल पार करके वह उत्तर की ओर बढ़ा। उधर बंगले थे। कुछ ही देर में वह वहां पहुंच गया जहां मिस्टर वर्मा रहते थे। वह उनके बंगले के पास ठिठका पर वहां सर्वत्र मौन था।



सब कुछ स्तब्ध मानो समूचा वातावरण रात्रि के शीतल आवरण में प्रवेश कर चुका हो। उमकी सिराओं का तनाव ढीला पड़ा। वह फुमफुमाया, “नहीं, यहाँ नहीं।”

लेकिन दूसरे ही क्षण वह फिर दीड़ने लगा। उम स्तब्धता में उसके घपने पैरो को पदचाप उम कपाने लगी। जनाशय के किनारे दूर-दूर तक फैली हरी घास पर दो-चार रोमाण्टिक मूर्तियाँ मुक्त वातावरण का आनन्द ले रही रही थी। उमका दिन धुकधुमाया और वह उनके पास में हाँकर सरं हो निकल गया।

वह फिर रेस्तन और फैजनेयन सामान वाले बाजार की ओर मुड़ गया और कुछ देर बाद बिचारी के नुक़ानों के छोटे खाना हुआ जानदार रेस्तन के सामने धाकर रुक गया। वह घपने को बटोरने के लिए कुछ पीना चाहता था, पर जंगे ही द्वारपाल ने उमके लिए हिराक गोंद और वह अन्दर दाखिल हुआ वह नटवड़ाकर पीछे हट गया—सामने मरीच और यमा बँठे हैं। दोनों मुम्बरा रहे हैं। दोनों...

वह एकएक हाफने लगा। गिरने-गिरने बचा और फिर द्वारपाल को चौंकाता हुआ तेज़ी से एक ओर चला गया। भागने लगा। भागता गया, भागता गया। तब तक भागता ही गया जब उमका घर नहीं आ गया। रोशनी जल रही थी। दोनों बच्चे सो गए थे पर मोहर ऊप रहा था। उमने किसी ओर ध्यान नहीं दिया। सीधा घपने पत्तन पर जाकर गिर पड़ा। बहुत देर तक पड़ा रहा। वह न मोच सकता था, न घपना कीई घग हिमा सकता था। वह सब हर दृष्टि से मानो मर चुका था...

लेकिन महमा उमके घाव मोट धाए। वह उठकर बैठ गया। उमने निश्चय किया कि वह घाव मरीच को मार डालेगा, हा, मार डालेगा। जान से मार डालेगा। उमने उम पाटी में अस्मानिन बरबाद। मित्रों ने उमपर पश्चिदा बनी। उमने देगहर रात्र मुम्बरादा और रजामा ने बूटकी सी। रजामा ने, रजामा जी... वह मरीच को मार डालेगा। उम मार डालेगा...



कि सहसा किवाड़ खुले और सनोप द्वार पर दिखाई दी। वह मुस्करा रही थी और उसके मंदिर नयनों ने मुरा जैसे छलकी पड़ती थी। उसने आगे बढ़ते हुए कहा, “हलो डालिंग; तुमने रेस्तराँ का दरवाजा खोला और फिर चले आए। थायद तुमने हमें देखा नहीं। सामने ही तो थे। मिस्टर वर्मा भी थे...”

रोशन चीख उठा, “निलंज्ज ! मैं तुम्हें मार डालूंगा !”

संतोप ने चौंककर उसे देखा, “यह क्या कह रहे हो ? तुम्हारी तबीयत तो ठीक है ? अरे, तुम तो कांप रहे हो ? मैं पार्टी में न आ सकी शायद इसीलिए...”

रोशन उठकर खड़ा हो चुका था और संतोप की ओर बढ़ रहा था। उसकी आंखें जल रही थीं। उसके मुख पर हिंसा उभर आई थी। उसके हाथ अकड़ रहे थे, पर संतोप ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। बोलती रही, “मैंने पार्टी में आने का बहुत प्रयत्न किया। मैं वहां आना चाहती थी पर श्यामा के कारण ऐसा न हो सका।”

रोशन और आगे बढ़ा। उसका मुंह और विकृत हुआ। हाथ ऐंठे...

लेकिन संतोप ने फिर भी कुछ ध्यान नहीं दिया। बोलते-बोलते वह रोशन के पास आई और उसके कंधे पर हाथ रख दिया। फिर नयन उठाकर उसकी आंखों में झांका। रोशन का शरीर एकाएक झनझनाया पर उसने कड़ककर पूछा, “तुम कहां थीं ? मैं पूछता हूँ, तुम कहां थीं।”

संतोप निस्संकोच बोली, “तुम्हें क्रोध आ रहा है। आना ही चाहिए, पर मैं क्या करूँ ? श्यामा ने वर्मा को तभी छोड़ा जब पार्टी का समय हो गया। वह उसे वहां ले जाना चाहती थी। वह...वह ठेका लगभग प्राप्त कर चुकी थी...”

रोशन फिर कांपा पर अब उसका कारण दूसरा था। उसने तेजी से गर्दन को झटका दिया और संतोप को देखा, बोला, “क्या कहती हो ?”

“यही कि मैं वर्मा के साथ न रहती तो वह ठेका राजकिशोर को मिल जाता।”



“राजकिशोर को मिल जाना ? मैंने तो मुना है वह उसे मि  
है । उसकी बड़ी पहच है । ध्यामा...”

सन्तोष ध्यामा से चीख उठी, “तुमने गलत मुना है । ध्यामा कुछ नहीं  
कर सकती । ठेका राजकिशोर को नहीं मिला...”

“तो किसको मिला ?”

सन्तोष के हाथ में एक लिफाफा था, उसीको उभने रोगन की ओर  
तैयारी से फेंका, “यह देखो...”

“सन्तोष !” —स्तव्य रोगन भील उठा । वह सब कुछ भूल गया ।  
उसका गल सघर्ष निमिष-मात्र में छल बुझ गया । उसने सपककर लिफाफा  
खोला...

सन्तोष घरारन से हसी, बोली, “सरकारी पत्र कल तुम्हारे पास आ  
जाएगा और परसों हम बेंगर में एक जानदार पार्टी देंगे । एक बहुत गान-  
दार पार्टी...”

रोगन तब तक उस पत्र को पढ़ चुका था । उसने कापते हुए, चीखते  
हुए सन्तोष को बाहो में भर लिया और बार-बार कहने लगा, “सन्तोष,  
तुम कितनी अच्छी हो, कितनी बड़ी हो । ओह मैं तुम्हारे लिए क्या कर ?  
क्या कर...”

सन्तोष बोली, “बुझ नहीं आता, मैं पिक्चर आ रही हूँ । मेरा इन्त-  
जार न करना । सो जाना ।”



## भोगा हुआ यथार्थ

---

वृद्ध पारसनाथ बड़ी तेजी से हांफने लगे थे। उनका गौरवर्ण चेहरा बिल्कुल ढीला पड़ गया था। जैसे पिघल गया हो। लेकिन प्रयत्न उनका यही था कि वह पहले की तरह तने और कसे रहें। दरअसल यही प्रयत्न उनकी परेशानी का कारण था। हर बीतता क्षण उन्हें दुर्बल और दयनीय बना देता था। वह अभी एक प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र से लौटे थे। अरविन्द ने बहुत आग्रह के साथ उन्हें वहां भेजा था। एक सप्ताह बीतते न बीतते वह लौट आए। अरविन्द ने कहा, “क्यों, इतनी जल्दी कैसे लौट आए?”

वह बोले, “इस उम्र में सेहत भी क्या ऐसी चीज़ है कि उसे इस तरह सजाया-संवारा जाए?”

अरविन्द ने कहा, “लेकिन जब तक आदमी जीता है, उसे आत्मनिर्भर होकर जीना चाहिए।”

पारसनाथ ने कोई जवाब नहीं दिया। एक क्षण के लिए उनके चेहरे पर हल्की-सी मुसकान चमकी और फिर वह तकिये के नीचे दबी हुई पोटली को टटोलने लगे। उसके बाद जेब में पड़े हुए कागज़ों को सहेजा। फिर अरविन्द से बोले, “कमरे की सब खिड़कियां और दरवाज़े बन्द कर दो। और तुम जाकर आराम करो।”



०  
धरविन्द ने कहा, "क्या आप मुझे से नहीं मिलना चाहेंगे ? बिना भी तो घा मर्द है।"

पारमनाथ ने उत्तर दिया, "मैं किसी नहीं मिलना चाहता। वह हरामजादा मेरी दीनत का भूता है। और बिना बड़ी बेवकूफ सड़की है। वह उसके किसी काम में दखल नहीं देंगे। वह मेरी मारी दीनत का मुझे के द्वारा ही पाना चाहती है। शायद वह मुझमें डरती है क्योंकि मैंने उसे एक पागल युवक के जान में फँसने में बचाया था।"

कहते-कहते बाबू पारमनाथ का स्वर बहुत थक गया। उन्होंने कई बार अपने हाथों की मुद्रिष्टमा कर्मीं छोड़ीं। फिर एक दीर्घ निश्वास लेकर उन्हें डाला छोड़ दिया। उनकी साव का वेग कम नहीं हो रहा था। मुह से रान टपकने लगी थी। लेकिन वह बराबर उन की करियों का घूर रहे थे। धरविन्द ने दोनों हाथ परत पर टिकाकर आगे झुके हुए एक बार फिर पूछा, "लेकिन आप कुछ सेना तो चाहेंगे—दवा, दूध या चाय ?"

बाबू पारमनाथ ने बहुत धीरे से कहा, "धन कुछ नहीं। मुम नामों। मेरी बड़ी इच्छा थी कि मैं अपनी मारी मर्यादा का दृष्ट बना जाऊँ। पर मुझे भी मेरी सहायता नहीं की। अब वह हरामजादा टमकां का पाएगा। वास्तव में उसे रोक जाना, लेकिन वह बेवकूफ मारी मान सब न ?"

वे जानो अपने में सोच रहे थे। सोचते-सोचते मधुमा उन्होंने धरविन्द की ओर देखा और कहा, "जामो, सोमो। मदेरे मुझे कुछ जरूरत करने की है।"

धरविन्द ने अनुभव किया कि उसका बहा रत्ना सीध नहीं है। वह निरवय करने में उसे कई क्षण लग गए। वह उनका कोई निश्चय नहीं था। मान सामाजिक परिपक्व था। हा, या बारी बुझा। जो बुझने का सहारा लेकर बाबू पारमनाथ अब कभी परमान स्तं, देवें न के आते।



## ३२ मेरी प्रिय कहानियां

अरविन्द ने मंत्र दरवाजे और खिड़कियां बन्द कर दीं। कर चुका तो उसने एक बार फिर बाबू पारसनाथ की ओर देखा। गहसा उसने अनुभव किया कि जैसे वह एक लाश के साथ अंधेरे बन्द कमरे में अकेला रह गया है। उसे पहली बार अंधेरे में डर लगा। और उसका डर व्यर्थ नहीं था। उस अंधेरी रोगनी में उनका राल से भरा चेहरा बहुत विकृत था। यन्त्रवत् उनका हाथ उसके अपने चेहरे पर चला गया जो पसीने से तर था। उसका मन न जाने कैसा-कैसा हो आया। उसने तंजो से रुमाल निकालकर अपना पसीना पोंछा और बिना किसी ओर देखे बाहर निकला चला गया।

अब कमरे में घुप्प अंधेरा था और बाबू पारसनाथ जिनके सांस की गति और भी तेज हो गई थी, आंखें फाड़-फाड़कर कुछ खोजने की कोशिश कर रहे थे। बहुत देर तक करने रहे फिर एकाएक उनके दिमाग में तूफानी हवाएं उठने लगीं। और फिर कमरे के दरवाजे और खिड़कियां जोर-जोर से खड़खड़ाते लगे। उन्होंने नीम-बेहोशी की हालत में कहा, “अरविन्द, क्या तुमने दरवाजे और खिड़कियां बन्द नहीं कीं?”

कहीं से कोई जवाब नहीं आया। वस अंधेरा उसी तरह सर फोड़ता रहा। उन्होंने भी अपने सिर को कई बार ऊपर-नीचे पटक़ा। और फिर आंखें बन्द करके बड़बड़ाए, “मुझे कुछ नहीं हुआ। मैं ठीक हूं। मेरे रहते सुदेश मेरी सम्पत्ति का उपभोग नहीं कर सकेगा।....”

तभी एकाएक जैसे कमरे का सबसे बड़ा दरवाजा खुल गया और घड़घड़ाती हुई डाकगाड़ी अन्दर चली आई। और दूसरी ओर से निकल गई। और उसमें से कूदकर एक अर्द्ध विक्षिप्त अघड़े मूर्ति कमरे के बीचों-बीच आकर खड़ी हो गई। उसके कपड़े फटे हुए थे और बाल बिखरकर हवा में उड़ रहे थे। उसकी आंखों की घृणा राल की तरह चेहरे पर बहर रही थी। उसने भयानक डरावनी आवाज में कहा, “मेरी ओर देखो, पारस। मुझे पहचानते हो?”

पारसनाथ के हृदय की घडकन असंख्य तफ़ानी भूकोरों की गति से



बढ़ गई थी। मूर्ती भावों से एकटक उस मूर्ति को देखते हुए उन्होंने पूछा,  
"तुम बीन हो?"

एकाएक कमरा भयानक हभी से गूँज उठा। पेंचकश की तरह छाती से धार-धार हो जाने वाली खोफनाक आवाज में उस प्रागन्तुक ने कहा,  
"अजीब बात है, मेरी आवाज नहीं पहचानते? बचपन से ही मैं तुम्हारे साथ रहा हूँ। एक ही घर में खेलकूदकर हम बड़े हुए हैं। भरे, हम दोनों के मा-बाप तक एक थे। अपनी जबानी तक हम दोनों एक-दूसरे को कितना प्यार करते थे। क्यों पारस? अब पहचाना? मैं निरंजन हूँ। तेरा मां-जाया बड़ा भाई।"

एक क्षण वह आवाज दबी, पर उसकी गूँज तो और भी आमदामक थी। पारसनाथ हृष्टम-विमूढ़ शून्य में दूबे रहे। उस मूर्ति ने ही घुमड़ती हुई, पर कुछ धीमी आवाज में कहा, "हाँ, मैं निरंजन ही हूँ। मां-बाप के मर जाने के बाद जायदाद के बंटवारे को लेकर कैसा तूफान खड़ा हो गया था। आमदाद हमेशा तूफान ही पैदा करती है। है न? प्यार जता जता-कर तूने पहले मुझे प्राणवत्त कर दिया कि मैं बीमार हूँ; फिर गलत दबा-इया खिला-बिलाकर मेरा दिमाग खराब कर दिया। उसके बाद किस-किससे न कहकर मुझे पागलखोर्ने भिजवा दिया। उस दिन तू कितना रोया था। हर तीसरे महीने तू मुझे देखने पागलखाने आता था कि मैं कहीं निकल न आऊँ। लेकिन वे कम तक मुझे रखते। तीन वर्ष बाद मैं वहाँ से बाहर आ गया। तब तक काफी अवलमन्द हो गया था। चाहा या तुम-से दूर रहकर जिन्दगी को गमा मोड़ दूँ, लेकिन तूने मेरी शादी ही नहीं होने दी।"

आबू पारसनाथ की सला जैसी सीटी। उन्होंने सापरवाही से कहा,  
"पागल की कोई शादी करता है।"

मूर्ति इस बार फिर खलक हँसी, "हाँ, पागल की कोई शादी नहीं करता। उसे तो बस भदास्त में ही घसीटा जा सकता है। है न?"

जैसे मूर्ति का रोम-रोम घृणा से जकड़ गया हो। जैसे उसकी जड़ों



में बिजली दीड़ने लगी हो। उसने धीरे-धीरे एक-एक मन्द को चिबल-चिबलकर कहा, “तूने मुझे एक लम्बे अर्से तक अदालत में घसीटा। मुझे नालायक साबित करने के लिए अपनी सारी प्रतिभा खर्च कर दी। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि मैं सचमुच पागल हो गया। लेकिन तू बहुत अच्छी तरह जानता है—पागल हो जाने पर भी मैंने तुझे अपने मकान में कदम नहीं रखने दिया था। उसकी छतें बैठ गई थीं, दीवारें गिर गई थीं, वह खंडहर हो गया था। लेकिन मैं प्रेत की तरह वहीं मंडराता रहा। अब तूने मेरी दुर्दशा पर ज़ार-ज़ार आंसू बहाए। मेरी देखरेख का ढोंग रचा। और, और...”

उसके स्वर में घृणा जैसे सैलाव की तेज़ी से उमड़ आई। अबभूखे खतरनाक हिंसक पशु की तरह उसने अपना वाक्य पूरा किया, “और अन्त में एक दिन तू मुझे ज़हर देने में सफल हो गया।”

बीच-बीच में पारसनाथ ने गुरानि की कोशिश की, लेकिन उसी क्षण वह मूर्ति चीख उठती, “गुरानि से कोई फायदा नहीं होगा। मैं तेरी अस-लियत ही तेरे सामने खोलकर रख रहा हूँ और यह भी सुन ले कि मैं चाहूँ तो तेरा गला घोट सकता हूँ। लेकिन तेरे जैसे लुच्चे को हाथ लगाना भी अपना अपमान करना है।”

पारसनाथ कई क्षण तक फिर तड़फड़ाते रहे। बड़ी कशमकश के बाद जाकर कहीं वे अपने को संयत कर सके। और उन्होंने धीरे-धीरे कहा, “मैं नहीं जानता तुम यहां कैसे आ गए! क्या तुम सचमुच ज़िन्दा हो? मैंने तो तुम्हें अपने हाथों से जलाया था। तुम ज़रूर प्रेत बनकर मेरी हत्या करने आए हो। लेकिन अब उससे क्या होता है? हत्या, आत्महत्या, मृत्यु सब एक ही हैं। लेकिन एक बात मैं भी तुमसे कहे देता हूँ, तुम अपनी सम्पत्ति मुझसे किसी भी प्रकार वापस नहीं ले सकते।”

इस बार वह कमरा एक उन्मुक्त किलकारी से गूँज उठा। उस मूर्ति ने खिलखिलाते हुए कहा, “मूर्ख पारस! तू मेरी सम्पत्ति का कभी भी मालिक नहीं रहा। आज भी नहीं है। कल भी नहीं होगा।”



पारसनाथ एकाएक चौंख उठे, "तुम यहां से चले जाओ। नहीं तो मैं पुलिस को सूचना दे दूंगा।"

उस भूति ने उसी उन्मुक्तता से कहा, "धीरे-धीरे भाशा ही क्या की जा सकती है? लेकिन पारम, मुझे खेद है कि अब तेरी पुलिस मुझे छु भी नहीं सकेगी।"

यादू पारसनाथ पूर्ववत् चौंके, "तुम इस कमरे से एक कदम भी बाहर नहीं रत सक्ते। मैं तुम्हें अभी जान से मार डालूंगा।"

"निश्चय ही मार डालोगे। लेकिन तुम्हारे पास इस बात का क्या सबूत है कि तुम जिसको मारोगे वह तुम होगे या मैं।"

पारसनाथ की बीवलाहट चरम सीमा पर पहुंच गई थी। उनकी समां जैसी उस भूति के मिर पर सींग उम घाए हैं धीरे से सींग किसी भी क्षण उनके धक्के की मार-पार हो सकते हैं। वे पूरी शक्ति लगाकर चीखे, "मैं कहता हूँ यहां से चले जाओ! तुम यहां कैसे आए? किसने तुम्हें बताया कि मैं यहां हूँ?"

एकाएक कमरे में प्रकाश फिर चमक उठा। एक खिड़की खुली और उमंगे होकर एक पुरुष-भूति धन्दर आ गई। वैसे ही जैसे हवा का तेज झोंका धन्दर घुस आता है। उस भूति ने धीरे-धीरे स्वर में कहा, "इन्हें मैंने बुनाया था।"

"तुम कौन हो?"

"मैं पारसनाथ हूँ।"

पलंग पर लेटे हुए पारसनाथ ने अविश्राम से अपने को टटोला। तैली से घालें पोंली और बन्द की; फिर कहा, "पारसनाथ, कौन-सा पारसनाथ? मैं पारसनाथ हूँ।"

भूति ने उत्तर दिया, "हां, तुम भी पारसनाथ हो सकते हो। लेकिन इनको बुलाने वाला पारसनाथ मैं हूँ। मैंने सबकुछ इनके साथ घुरा-बर्ताव किया। मैं अपने दोष की आत्म-स्वीकृति का दण्ड भोगना चाहता हूँ। मैं..."



## ३६ मेरी प्रिय कहानियाँ

पलंग पर लेटे हुए पारसनाथ को बड़ी तेजी से गुस्सा आया और उन्होंने चाहा कि वह उठकर अपने को पारसनाथ कहने वाली उस मूर्ति को चूर-चूर कर दें। लेकिन उनका हर प्रयत्न नपुंसक व्यक्ति के प्रयत्न की तरह बेकार हो गया। उन्होंने पाया कि वह पसीने-पसीने होकर हाँफ रहे हैं। जैसे उनकी श्वास किसी भी क्षण बन्द हो सकती है। कई क्षण तक वह अपने से संघर्ष करते रहे। फिर उन्होंने दृष्टि उठाकर उस मूर्ति की ओर देखा। वहाँ न कोई मूर्ति थी और न कोई आवाज। आसपास सब कुछ काठ-सा निम्नत्व था। जो कभी-कभी उनकी अपनी श्वास से चेतन हो आता था। जैसे कहीं उल्लू ने अपने पंख फड़फड़ाए हों या कुत्ता भौंक उठा हो। वह बुदबुदाए, “यह मैंने क्या देखा? यह सब मुझे क्यों याद आ गया? क्यों? नहीं, नहीं, मैं कुछ नहीं सोचना चाहता। सोचना बेकार है। मुझे सोना चाहिए।”

लेकिन वातावरण में कहीं कुछ बज रहा था। एक पुराने बेसुरे पियानो की तरह। उन्होंने हरचन्द सोने की कोशिश की। आँखें बन्द करके दोनों हाथ विस्तर पर फैला दिए लेकिन बेसुरे पियानो के स्वर और भी तेज हो उठे। बार-बार जैसे किसीने उन स्वरों को ठीक करने की चेष्टा की। लेकिन हर चेष्टा के बाद पियानो की आवाज और भी भयानक हो उठी। पर तभी न जाने क्या हुआ, एक चिरपरिचित नारी-स्वर पियानो की उस बेसुरी आवाज से ऊपर होकर उनके अन्तस् में गूँजने लगा। वह बहुत ही मधुर और प्यारा था। उसने फुसफुसाकर उनके कान में कहा, “मेरी आवाज को तो आप बहुत अच्छी तरह से जानते हैं। जिन्दगी का बेहतरीन हिस्सा मैंने आपके साथ बिताया है। आपने बार-बार मुझे अपने से अलग करने की कोशिश की लेकिन मुझे आपसे इतनी मोहब्बत थी कि मैं हर बार आपके पास लौट आई। आपको याद है न? एक बार हम दोनों तीर्थ-यात्रा पर गए थे। आपके बारे में प्रसिद्ध था कि आप दाँत से पैसा पकड़ते हैं। लेकिन उस बार आपने मुझे एक के बाद एक कई तीर्थों की यात्रा कराई। उन दिनों आप मुझे कितना प्यार करने लगे थे। काश, वे दिन



धमर हो पाते !”

बाबू पारसनाथ एकाएक पागलों की तरह चीख उठे, “चुप हो जाओ। मैं तुम्हें बहुत अच्छी तरह पहचानता हूँ। मैं तुम्हारी भावाङ्ग नहीं सुनना चाहता।”

“भावाङ्ग से कोई नहीं बच सकता। ये भावाङ्ग आप की तरह होती हैं। भावमी के तन-मन में धार-धार हो जाती है। धीरे धीरे आपसे तो बातें करने का मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है। मैं आपकी जिवाहिता हूँ। आप राबमुच मुझे प्यार करते थे। आपने मेरे जीवन का पचास हजार रुपये का बीमा कराया था। आप रे, हर तीसरे महीने कितनी बड़ी किस्त देने थे आप ? मेरी सारी हमजोलिया मुझमें ईर्ष्या करती थी। कहती थी—जिन्दा, तू कितनी भाग्यशालिनी है ? तेरे पति तुम्हें कितना चाहते हैं।”

बाबू पारसनाथ बोले, “हा, हा, मैं तुम्हें बहुत चाहता था, लेकिन तू इतनी डरावनी क्यों दिखाई दे रही है ? तेरी भावाङ्ग इतनी शर्कश क्यों है ?”

मृति हंसी, “यह आपका भ्रम है। मैं तो बहुत सुन्दर हूँ। स्वर्ग की आपसराए मुझसे ईर्ष्या करती हैं। जब किसी मेता का तप मंग करना होता है तब इन्द्र मुझे ही धरती पर भेजते हैं। मेरे संगीत पर वे पागल हुए रहते हैं। आपको भी तो मैंने बहुत सारे गीत सुनाए थे। लेकिन जाने दो उन बातों को। मैं तो आपको उस दिन की बात याद दिलाने आई हूँ, जिस दिन आप मुझे हरिद्वार के मेले में छोड़ आए थे। धीरे धीरे पहुँचकर जार-जार रोए थे। गिरक-सिसककर कहा था, कि मैं गंगा की तेज धारा में बह गई हूँ। प्राणों को सबट में डालकर धारने मुझे बचाने की कोशिश की थी। पर लोगों ने आपको निवान निवा। कई दिन बाद एक सही-गली मास को आपने पहचाना कि वह मेरी थी। धीरे धीरे बड़े दर्द-भरे दिन से मेरा शानदार क्रमाकर्म किया। धीरे धीरे उतने ही दर्द से बीमा कम्पनी से पचास हजार रुपये बगूस करने का प्रयत्न करने लगे।”

पारसनाथ एकाएक चीख उठे, “यह सब झूठ है। तुम जानती हो मैंने



पैसा वसूल नहीं किया था।”

नारी-स्वर धीरे से धिक्कार-भरी हंसी हंसकर बोली, “इतने उत्तेजित मत होइए। आपके चेहरे पर अब कोई रंग नहीं रहा है, जो बदलेगा। वह बहुत मासूम दिखाई दे रहा है। इतना मासूम कि विकृति की सीमा पर पहुंच गया है। आपको शायद याद होगा कि एक साल बाद मैं फिर अपने घर वापस पहुंच गई थी। मुझे देखकर उस समय आपके चेहरे का रंग जो उड़ा तो फिर कभी नहीं लौटा। आप चाहते थे कि मुझे पहचानने से इन्कार कर दें। लेकिन मेरी दो वक्चियां भी तो थीं। उन्होंने चीख-चीखकर घर सिर पर उठा लिया था। तब आपको भी रोना पड़ा था। और आप एका-एक बदल गए थे। आपने उस अवसर का पूरा लाभ उठाया। मेरे लौट आने की खुशी में दावत दी, जशन मनाया और फिर बड़े गर्व से बीमा कम्पनी को लिखा : सौभाग्य से मेरी पत्नी जीवित लौट आई है। मैं अपना दावा वापस लेता हूं।”

एक क्षण के लिए वह आवाज बन्द हो गई, लेकिन पूरा कमरा एक दबी-दबी हंसी से भरा रहा। चीर देने वाली व्यंग्य से पानी हंसी से। उन्होंने तिलमिलाकर अपने हाथों से अपने को ही भंभोड़ देना चाहा कि तभी वह मूर्ति फिर बोल उठी, “उसके बाद पूरे बीस साल तक मैं आपके साथ रही और उन बीस सालों में एक दिन भी हमने उस बात का जिक्र नहीं किया। क्या इससे बड़ी पतिव्रता नारी आपको मिल सकती थी! लेकिन आपने फिर भी मुझे बार-बार अपने रास्ते से हटा देने की कोशिश की। न, न, इस तरह न देखिए। इसमें ज़रा भी तो भ्रूट नहीं है। हां, यह दूसरी बात है कि हर बार आपका प्रयत्न बेकार हो गया। तब तक बेकार होता रहा जब तक मैंने स्वयं खुद घुटन से परेशान होकर आत्महत्या न कर ली। मैं कुएं में गिर पड़ी थी और आपने रुपये देकर पुलिस का मुंह बन्द कर दिया था। लिखा दिया था कि पानी खींचते-खींचते मेरा पांव फिसल गया और मैं कुएं में गिर गई। जो गंगा में न डूब सकी वह कुएं में डूब गई।...”

पारसनाथ ने फिर तिलमिलाकर कहा, “ओह! यह सब क्या है? तुम



सोच कहा से और कैसे था रहे हो ? मैंने तुम्हें किसीको नहीं बुलाया ।”

कमरे में जैसे फिर हवा का नेत्र भोंका घुम आया । तिडकी खुसी और एक चमक उस कमरे के कोने-कोने में बसा हो गई और उसीके साथ जैसे एक मूर्ति उभर उठी । उसने कहा, “इन्हे मैंने बुलाया था ।”

“तुम कौन हो ?”

“मैं पारसनाथ हूँ ।”

पलंग पर लेटे-लेटे पारसनाथ ने तेजी से घाँसें मोलें और बन्द की । और कहा, “पारसनाथ, पारसनाथ, कौन-सा पारसनाथ ? बाहिर कितने पारसनाथ हैं ? नहीं, नहीं पारसनाथ केवल मैं हूँ ।”

प्रकाश-मूर्ति गहन-गम्भीर स्वर में बोली, “तुम पारसनाथ हो ? नहीं, तुम तो उसका विकृत शरीर-भाष हो । वास्तविक पारसनाथ मैं ही हूँ । मैंने ही इनको मिलने के लिए बुलाया है । मैं इनसे सबके सामने धामा मागना चाहता हूँ... चाहता हूँ...”

पलंग पर लेटे पारसनाथ की बड़ी तेजी से गुस्सा आया । बाह्य कि उठकर अपने-आपको पारसनाथ कहने वाली उस मूर्ति को चूर-चूर कर डाले । लेकिन उन्हें लगा जैसे किसीने बहुत पास आकर उनके सीने को दबा दिया है । उसी स्थान पर दबा दिया है, जहाँ एक बहुत बड़ा फोड़ा था । दबाने से वह फोड़ा फूट गया और फोड़े की सारी गन्दगी बहु-बहुकर उनके सारे शरीर पर फैल गई । उन्हें बार-बार उमकाई आने लगी । वह अब न बोलने के लिए मुह खोल सकते थे और न देखने के लिए आँखें । वह छटपटाकर धरविन्द को पुकारने के लिए उड़िये हो उठे । लेकिन उनकी आवाज नहीं निकली । निकली एक डरावनी सीख । और उसके बाद सब शान्त हो गया ।

कई क्षण बाद उनकी सास लौटी । जिन्दगी अब कैसी भयानक लग रही थी, ठहरे सड़े पानी की तरह । आँखें और निपट अस्पष्ट हो गई । एकाएक कहीं दूर उल्लू पक्ष फड़फड़ा उठना या कुत्ता रोने लगना । उन्होंने व्यग्र होकर अपने से कहा, “यह सब मेरे दिमाग का फिचूर है । पाज मैं



## ४० मेरी प्रिय कहानियां

ये पुरानी-पुरानी बातें क्यों याद कर रहा हूँ ? क्यों ये सब सनीचर की तरह मेरे सोने पर चढ़े आ रहे हैं । और उन सबको बुला लाने वाला मैं स्वयं ही कौन-सा 'मैं' हूँ । नहीं, अब मैं पिछली बातें नहीं सोचूंगा । सोचना भविष्य के लिए लाभदायक होता है । मेरा कोई भविष्य नहीं । मैं क्यों सोचूँ ? मैं अब सोऊंगा ।"

जैसे ही उन्होंने सोने की चेष्टा की, अनुभव किया कि कोई उन्हें बड़े स्नेह से पुकार रहा है । ... "पिताजी...", "पिताजी..."

"न, न आप कांप क्यों उठे ? मैं हूँ शुभा । आपकी बड़ी बेटी, जिसे आपने धार्मिक शिक्षा देने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी, जो परम सुन्दरी थी और जिसके बारे में आप सोचा करते थे कि आप उसका विवाह किसी करोड़पति सेठ से करेंगे ।"

इस बार पारसनाथ ज़रा भी नहीं घबराए । मानो उनका विश्वास लौट आया हो । वह बोले, "तो इस बार तू आई है । निर्लज्जा, मैंने तुझे कितना प्यार किया था, लेकिन तूने मेरी आशाओं पर पानी फेर दिया । मैं तुझे करोड़पति के घर में देना चाहता था । और तू उस दो कौड़ी के प्राध्यापक से प्यार करने लगी, जिसे मैंने तुझे हिन्दी प्रभाकर पढ़ाने के लिए रखा था । मेरे प्यार ने तुझे विगाड़ दिया था और तू मुझसे यह कहने का साहस कर सकी थी—मैं मकरन्द से प्यार करती हूँ, उसीसे विवाह करूंगी ।"

शुभा की मूर्ति ने बहुत कोमल स्वर में उत्तर दिया, "मेरे प्यारे पिता जी ! आपको तो सब कुछ याद है । वह साहस मुझे उसी धार्मिक शिक्षा से प्राप्त हुआ था जिसकी सुविधा आपने मेरे लिए की थी । मैं सच-मुच मकरन्द से प्यार करती थी । मैंने उससे प्रतिज्ञा की थी कि विवाह करूंगी तो उसीसे करूंगी । लेकिन आपने मेरी एक बात नहीं सुनी । आपने मुझे काल-कोठरी में बन्द कर दिया । आपने मुझे विवश कर दिया कि मैं मकरन्द को मिलने के लिए बुलाऊँ । वह इस पड़्यन्त्र को न समझ सका । बेचारा, प्रेम में पागल जो था । वह मुझसे मिलने आया लेकिन मेरे स्थान



पर उसे मिले था। आपने उसे पीटा, बुरी तरह पीटा। लेकिन क्या आप जानते थे पिताजी, कि ठगपर पड़ने वाली हर चोट मेरे ऊपर पड़ रही थी। मैं और वह दोनों एक हो चुके थे। उसकी बेतना मेरे अन्दर में घड़क रही थी। मैंने स्वयं उससे कहा था कि शायद जब मैं तुम्हारे बच्चे की मा बनूँगी तब पिताजी पिपल जाएँगे। लेकिन आप नहीं विचले। आपका भ्रष्ट प्रतिहिता का भयानक रूप लेकर मुझे कुबजने को मँयार हो गया। आपने मकरन्द को धार-धारकर गहर से चले जाने को बिबध कर दिया। और फिर मेरी ओर मुड़े। आपकी धाँसों से टपकती हुई वह घुणा मैं आज भी अपने अन्दर में महसूस कर रही हूँ। कितनी निंद्यता से आपने मुझे पीटा था। लेकिन मैं तो चटान बन चुकी थी। चट्टान न रोती है, न परवाताप करती है। उससे टकराने वाला टूट जाता है। आप भी टूट गए थे इसीलिए तो आपने मुझे जहर देने का निरूपण किया था।”

एक क्षण के लिए वह मूर्ति खुप हो गई। कमरे में फिर अनहम सन्नाटा गूँब उठा। पारलनाथ ने उस पीछा से ब्यवित होकर इतना ही कहा, “मैंने भी किया, वह ठीक ही किया। दुराचारियों को बिन्दा गार दिया जाता है या मोड़े की गर्म-गर्म सनारों से टागा जाता है।”

मूर्ति ने उसी तरह मुरकड़ाते हुए जबाब दिया, “मुझे सब मालूम है। आपका दण्ड गर्मे मोड़े के सनारों के दमने से भी भयानक था। आपने रिपनरे का नाटक किया था। आपने मुझे धूमने-फिरने की धावासी दे दी थी। आप मुझसे बड़ा प्यार अजाने लगे थे। और एक दिन आपने बड़े प्यार से मुझे बंके शानकर रूप ओर धान का रस पिताया था। उसीमे तो जहर था। क्यों, क्या मैं कुछ समझ रहा हूँ? उसी रात को मुझे घरेने एक-दो राखसार दिनों तक गहर के एक बहुत बड़े एन्बोरेट के साथ, जो देर के एक बड़े राखनीतिक दन के नेत्रा भी थे, मेरे निर्वीर शरीर को बगून दूर दवा के बिन्दारे धमि के मुहुरे कर आए थे। पवित्र-मायनी गंगा के बिन्दारे बोन बिन्दो परवाना है। दूर-दूर से बड़ा मोय सब-दाह के निरुपां है। धन भी ऐसे ही का और मुझे पवित्र धमि को सीरकर



चले आए।...ऐसा ही हुआ था न ? न, न, इस तरह तड़फड़ाए नहीं। मैं यह सब नहीं देख सकूंगी। मैं तो आपसे सिर्फ मिलने के लिए चली आई थी। आपकी शक्ल देखकर तो ऐसा लग रहा है जैसे हड़प्पा सभ्यता के खंडहरों में से आकर कोई क्षत-विक्षत शव यहां लेट गया हो। नहीं, नहीं, मैं यह सब नहीं सह सकती। मैं ..”

पारसनाथ ने एकाएक चीखकर कहा, “तुम यहां से चली जाओ। नहीं तो मुझे तुम्हें फिर से जहर देना होगा। न जाने अरविन्द ने दरवाजे और खिड़कियां कैसे बन्द किए हैं कि जिसके जी में आता है, मुंह उठाए चला आता है। मैं कहता हूं तुम्हें मेरे एकान्त में खलल डालने का क्या अधिकार है ? तुम्हें किसने यहां आने दिया ?”

कमरे में एक बार फिर जैसे ताजी हवा भर गई हो। खिड़की खुली और एक वायवी पुरुष-मूर्ति अन्दर चली आई। बोली, ‘इन्हें मैंने ही यहां आने की दावत दी थी।’

“तुम कौन हो ?”

“मैं पारसनाथ हूं।”

पलंग पर लेटे पारसनाथ ने पागलों की तरह आखें खोलीं, बन्द कीं और कहा, “पारसनाथ, पारसनाथ ! गोया कि दुनिया का हर व्यक्ति पारसनाथ है। यह सब भ्रूठ है। पारसनाथ एक ही हो सकता है और वह मैं ही हूं।”

वायवी मूर्ति ने मुसकराकर उत्तर दिया, “तुम पारसनाथ हो ? सच ? तुम्हें यह गलतफहमी कैसे हुई ? मेरे प्यारे दोस्त ! तुम तो पारसनाथ का सांचा-मात्र हो। जो चेतन है, वह पारसनाथ मैं हूं। मैं अपनी इस प्यारी मासूम बच्ची से सचमुच माफी चाहता हूं। मैं इसे बहुत प्यार करता हूं। मैं इसे अब कहीं नहीं जाने दूंगा।”

और पलंग पर लेटे पारसनाथ का चेहरा बुझ गया। उन्हीं लगा जैसे शुभा धीरे-धीरे उनके पास आई और उनकी आंखों की पुतलियों को खींचकर बाहर निकालने लगी। उस समय उसके मुख पर ऐसी तृप्ति थी, जैसी



केवल धीरे-धीरे के चेहरे पर ही हो सकती है। उन्होंने डरकर अपने दोनों हाथों में अपनी दोनों आंखों को ढक लिया। दुमा का घुघला आकार मुमकराता हुआ अन्धकार के भुरभुर में गी गया। लेकिन वह आवाज देर तक उनकी छाती में ठक-ठक करती रही। उनकी धौंकनी बड़ी तेजी से चलने लगी। उन्होंने अनुभव किया कि जैसे उनका अन्त आ गया है। लेकिन वह अंधेरे में सब तक अच्छी तरह परिचित हो चुके थे और वह उसके भीतर सब कुछ देख सकते थे। उन्होंने पाया कि उनके सामने एक युवक आ गया है। वह एकाएक कुछ नहीं बोला। पहले कुछ अस्पष्ट-सी ध्वनिया निकलता रहा, फिर आप ही आप ठहाका मारकर हस पड़ा। जब काफी हस चुका तो उसने कहा, "क्यों बाबू पारमनायजी, आप मुझे पहचानते हैं? नहीं पहचानते? ताज्जुब है।"

और फिर ठहाका मारकर हस पड़ा और बोला "अजी माह्व, आपने मुझपर मुकदमा चलाया था। जैसे मुकदमा चलाना आपका पेशा है। बात में से बात पैदा करके आप मुकदमा चलाने के लिए मशहूर रहे हैं। हिन्दगी-मर आप ब्लैकमेल करते रहे हैं। अच्छा सब भी आपकी याद नहीं आता तो सुनो, मैं सारी कहानी सुनाता हूँ। एक दिन मैंने आपसे कहा था—'मुझे रागमंच बनाने के लिए जमीन की आवश्यकता है। क्या आप मुझे अपनी जमीन किराये पर दे सकेंगे?' तब आपने कुछ भी उत्तर नहीं दिया था। न हाँ, न ना। केवल मुमकराकर रह गए थे। आपके उस मासूम गीरे चेहरे पर वह मुमकराहट बड़ी प्यारी लगी थी। मुझे याद है कि आपने मुझे कुल्हड़ में चाय भी पिलाई थी। मिट्टी की वह सोधी-मोधी गन्ध मैं कभी नहीं भूल सकता। उसके बाद आपसे मेरी कोई बात नहीं हुई। मैंने अपना मंच बनाने के लिए दूसरी जमीन किराये पर ले ली। लेकिन एक दिन गया देखा कि अदालत से मेरे नाम समन आया है। मैंने आपकी जमीन का किराया नहीं चुकाया था। कौन-सी जमीन का? आपने मुझे कोई जमीन नहीं दी थी। लेकिन वह सब बताने के लिए आप पेशियों पर पेशियाँ डलवाने रहे। मुझे सताने रहे। मुझे बकौल करना पड़ा। उसे पैसे देने पड़े।



मैं तभी जान सका कि जून्य किनना अनित्यानी होना है। घाउ-दस पेशियां पड़ने के बाद सहसा एक दिन मेरी अदालत में आपने मुझसे कहा था, 'तुम धर्म से कह दो कि तुमने जमीन नहीं ली, मैं मुकदमा वापस ले लूंगा।'।

"मैं एकाएक उर तो गया था, लेकिन सच कहने से मैं ज़रा भी नहीं भिन्नका। छाती तानकर बोला था, 'मैं हजार बार कहता हूँ कि मैंने जमीन नहीं ली।'।

"तब आपने कहा, "अच्छी बात है, मैंने अपना मुकदमा वापस लिया।"

पासरनाथ ने कसमसाकर कहा, "क्या मैंने मुकदमा वापस नहीं लिया?"

"लिया, यह बात सही है। लेकिन मुझे अपने ऊपर दया आती है कि मैंने झूठा मुकदमा चलाने के अभियोग में आप पर मुकदमा क्यों नहीं दायर किया। क्योंकि वकीलों ने मुझे सलाह दी थी कि पुलिस की तरह बाबू पारसनाथ से भी तुम नहीं जीत सकते। अच्छा यही है कि तुम चुप हो जाओ। और मैं चुप हो गया था। लेकिन आज मैं आपको यही बताने आया हूँ कि मैं सचमुच चुप नहीं हुआ था। हो ही नहीं सकता था। न, ने, आखिरी मत मलो। आपको नींद नहीं आ रही है। आपको नींद नहीं आ सकती। आप आत्म-हत्या भी नहीं कर सकते। इसलिए इस तरह तड़-फड़ाओ मत।"

एकाएक न जाने क्या हुआ, बाबू पारसनाथ उठ बैठे और चीखकर बोले, "चुप हो जाओ। कोई बात है कि हर कोई मन चाहे गुणों और आदर्शों को मुझमें आरोपित करके, मुझे दोषी ठहराने लगता है। नहीं, नहीं, तुम मुझे आतंकित नहीं कर सकते। मैंने जो चाहा किया और जो चाहूंगा करूंगा। तुम यहां से भाग जाओ। मैंने तुम्हें नहीं बुलाया।..."

"लेकिन मैंने बुलाया था," यह कहते हुए एक मूर्ति ऐसे आवेग से अन्दर आ गई जैसे सैलाव का पानी सब कुंठ समेटता हुआ चला आता है।



पारसनाथ ने पूछा, "तुम कौन हो ?"

"मैं पारसनाथ हूँ। क्यों तुम्हें कोई आपत्ति है ?"

पलंग पर सेटे पारसनाथ ने तेज होकर कहा, "पारसनाथ मैं हूँ, तुम सब छलावे हो।"

वह मूर्ति हंसी, बोली, "हर पागल अपने को बुद्धिमान और श्रेष्ठ दुनिया को पागल समझता है। छलावा तुम हो, सत्य मैं हूँ।"

पारसनाथ ने चाहा कि वह मूर्ति का गला घोट दे लेकिन उन्हें लगा जैसे उनका अपना ही दम घूट रहा है। उन्होंने चाहा कि कमरे के दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दे लेकिन देखते क्या हैं कि हर दरवाजे और खिड़की पर एक-एक व्यक्ति खड़ा है। और वे सब उनकी ओर देख रहे हैं। और कमरा घसटते दरवाजों आवाजों से गूँजने लगा है। उन्होंने आँखें फाड़-फाड़कर देखा, शोर लगाकर बोले, "तुम सब कौन हो ?"

एक व्यक्ति हसकर बोला, "जनाब, सभी तो बताया था कि मैं पारसनाथ हूँ।"

"पारसनाथ ? कौन पारसनाथ ? पारसनाथ केवल मैं हूँ।"

वह मूर्ति एकाएक उनके पास आकर बोली, "हाँ, हाँ, तुम पारसनाथ का प्रेत-मान हो।"

पलंग पर सेटे पारसनाथ ने अपने दोनों कानों को जोर से दबाने हुए चीलकर कहा, "तुम सब चले जाओ, यहाँ से चले जाओ।"

एक मूर्ति बोली, "मैं यहाँ से कैसे जा सकता हूँ ? तुम मुझसे लटकर ही प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र से लौट आए हो। मैं तुम्हें वापस वहीं ले जाऊँगा।"

पारसनाथ जैसे करणों से भरकर धिपियाए, "नहीं, नहीं, मैं वहाँ नहीं जा सकता। मैं सब कहता हूँ। मैं मरना चाहता हूँ।"

दूसरी मूर्ति आगे बढ़ी, "लेकिन मैं नहीं चाहता। मुझे जिन्दा रहना है। मुझे अभी और दीसत इकट्ठी करनी है।"

तीसरी मूर्ति ने कहा, "मैं नहीं चाहता कि मैं यहाँ से कहीं जाऊँ। तुमसे



## ४६ मेरी प्रिय कहानियां

मेरी दीलत का भूया है। वह उसे चाट जएगा।”

चीथा पारसनाथ बोला, “नहीं, नहीं, मैं घर जाऊंगा। कितने मुक-दमे चल रहे हैं। मैं नहीं जाऊंगा तो ये सब लोग मेरी सम्पत्ति लूट लेंगे।”

आवाजे एक-दूसरे का काटने लगीं। इतनी तेजी से काटने लगीं कि उनकी पहचान गम हो गई। किसीको किसीके अस्तित्व का अहसास न रहा। और यह आगिरी पारसनाथ तो बिल्कुल नंगा था। खाल उतरी पसलियां, खोलली आंखें, खुला मुंह और सूखी टहनियों-से हाथ-पैर...

पलंग पर लेटे पारसनाथ का चेहरा अत्यन्त दयनीय हो उठा। उन्होंने पूरी शिद्दत से महसूस किया कि आत्माएं उनके इर्द-गिर्द मंडरा रही हैं। उनका दम घुट रहा है। अरविंद को दरवाजे और खिड़कियां खोल देनी चाहिए।

उन्होंने एक बार फिर जोर से चीखना चाहा, लेकिन वह जोर ऐसा नहीं था जैसे मुक्ति के लिए छटपटाती हुई किसी बेचस आत्मा का। उन्होंने अनुभव किया कि जैसे उनके अन्दर बहुत ही ज्यादा भय भर गया है। और शरीर चरम बिन्दु पर आकर टूट गया है। वह अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे थे। एक घबराहट-सी हो उठी और फिर वह लम्बी-लम्बी सांसें लेते हुए निढाल होकर एक ओर को लुढ़क गए।

सवेरे जब विभा और सुदेश के साथ अरविंद ने वहां प्रवेश किया तो पाया कि पोटली और सब कागजों को कसकर छाती से चिपकाए पारसनाथ कमरे के बीचोंबीच लेटे हुए हैं। घबराकर वे तीनों उनके ऊपर झुक आए। बिना उनके चेहरे की ओर देखे सुदेश ने सबसे पहले पोटली और कागजों को उठाकर विभा को दे दिया और कहा, “इन्हें रखो। मैं अभी डाक्टर को बुलाकर लाता हूं। वह बेहोश हो गए हैं।”

विभा अपनी अन्तर की हूक को बड़ी कठिनाई से रोक रही थी कि उसी क्षण अरविंद ने कहा, “अब कहीं जाने की जरूरत नहीं है। बाबूजी शान्त हो चुके हैं।”



सचमुच बाबू पारमनाथ शान्त हो चुके थे। युगों जितने सम्ये एक क्षण तक वह उन्हें देखने रहे। और फिर अरविन्द ने विभा के कंधे को यथयथा-कर कहा, “तुम्हारे पिताजी ने बहुत शानदार मौत पाई है। किसीको कष्ट नहीं दिया। सेवा तक नहीं कराई।”

मुद्देश ने भी अपने स्वर को यथाशक्ति करुण बनाते हुए कहा, “सच-मुच बाबूजी सब कुछ जान गए थे। इसीलिए तो वह बिक्रित्सा-केन्द्र में लौट आए। हर व्यक्ति अपने अन्तिम समय में अपनी के बीच ही रहना चाहता है।”

“और अन्तिम इवास तक उन्होंने अपनी चेतना नहीं खोई। मृत्यु को समीप जानकर अपने ही आप धरती की गोद में लोट गए।”

उत्तकें बाद उन्होंने बाबू पारमनाथ को सिर से पैर तक एक सफेद चादर से ढक दिया। ढक चुके तो दूसरे प्रबन्ध करने के लिए बाहर चले गए। एकही विभा उनकी सास के पास बैठकर रोने लगी।

और धीरे-धीरे वह कमरा शोकानुल व्यक्तियों से भरने लगा। सबे-दना प्रकट करने के साथ-साथ सब बड़े गर्व से यह अवश्य कह देते थे, “भगवान ऐसी शानदार मौत सबको दे।”



## बेमाता

---

उजनी ने लिहाफ परे हटाकर जोर से कहा, “अब तो सर्दी गई समझो, लिहाफ में दम घुटे है !”

विंदरावन ने मुन लिया। फिर लिहाफ में से ही एक बार मुंह उघाड़कर उसे देखा और आंखें मींच लीं। लेकिन दो क्षण बीत जाने पर भी जब न रहा गया तो बोले, “तेरा दम तो पुरवैया में भी घुटे है। भला कोई बात है। चुपचाप सो जा।”

कोई उत्तर नहीं मिला। पर ऐसा लगा, जैसे दूर कहीं कोई रह-रहकर सुवक उठता है। उसने कई बार करवट बदली, पर आवाज बन्द न होकर और भी तेज होती चली गई। उसीके साथ तेज होती गई उसकी बेचैनी। आखिर उसने चीखकर कहा, “रांड न सोती है न सोने देती है। अभी तो मैं जिन्दा हूं, जिन्दे को ही क्यों रोवे है ?”

फिर कोई नहीं बोला, पर दो क्षण बाद सुबकियां जैसे थम गईं, लेकिन तड़पन तो नहीं थमी। उठकर बैठ गई। बोली, “मैं तुम्हें क्या कहूं। जी भर आए तो क्या कहूं। मैं तो खुद चाहूं कि दम घुट जाए तो पीछा छूटे, पर तुम तो सब बातें अपने ऊपर ले जाओ हो।”

“अच्छा-अच्छा, सो जा।”

उसने फिर करवट बदली, पर इस बार आंख बंद नहीं हुई। बहुत



शोगिता की, पर हर बार एक न एक मुरत भाँसो के सामने घा लही होती। एक बार तो ऐसे लगा जैसे वह उठकर उन मुरतो को पीट देगा या फिर छपना हो सिर पीट लेगा। लेकिन किया उसने इतना ही कि करवट उघर बदन ली, ज़िपर उजली की साट ली। दो-तीन बार भाँसों सोती घोर भीची। बहुत कुछ पुराना इतनी ही-नो देर में भाँसों के भागे से गुजर गया।

लिहाफ़ के धन्दर भी धमकाए था, बाहर भी चुप भँघेरा था। भँघेरे में घादमी की दृष्टि बहुत तेज हो जाती है। इसलिए बिंदरावन ने धध बहुत धीरे-धीरे कहा, "इसमें किसीका दोष क्या है। जमाना ही ऐसा है, जो जिनके जी में घाए करे, तुम्हें क्या। हमने तो अपना काम कर लिया। कोई कहेगा तो नहीं कि यादू बिंदरावन ने कोई कोताई की है। घोर गुन, हम क्या किसीके भास्तीक हैं। अभी हृष्टों में दम है, कोई हुमा है इस पान-दान में जिसने बेटी को इतना पड़ाया है। घोर तुम्हें तो बावनी, खुदा होना चाहिए कि बड़ा भेटा यादू है घोर यह मास्टरनी। रहा छोटा, सो ठँकेवारी में भारे के ग्यारे करे है। मोटरकार से रखी है। कोई है ऐसा तेरे रिस्ते-माते में?"

उजली के जी में भाया कि दे भारे तड़ाक से जवाब कि मेरी ही कोल के जाए तो है। पर कुछ न कह सकी क्योंकि उघर से तुरन्त जवाब मिलता कि मेरी कोल के जाए हैं तो क्यों रोए है। इसीलिए उसने चुप रह जाना ही ठीक समझा। लेकिन मन भी क्या चुप रहता है? उसे अपने भेटो पर गर्व है। वे उसीके लो हैं। जब पारा-पडोस में लड़ाई होती है, तो घोरतें भावेन में घाकर वहाँ तक कह देती हैं, "जा-जा, हमें पता है कहाँ से लाई है तू भीलाव को। तेरा मिया क्या लाकर पैदा करेगा ऐसे बेटे।"

"हृयमजारी छिनाल, जो तेरा मिया लाकर करता है, वही लाकर मेरे मियो ने किया। तू यारों के पास जाती फिर है क्या? भुम्हे जकरत नहीं।"

"बड़ी भाई सतव्रती, बदमास रांड, सी-सी बूहे या के बिबारी बली



## ५० मेरी प्रिय कहानियां

हज को । छिनाल दो को लेकर इतरावे है । मेरे तो .....  
 “तो तू सात के पास गई होगी, रंटी ।”

आए दिन होने वाले इस वाक्-युद्ध का न कोई आरम्भ था न कोई अंत । और मजा यह था कि उस दिन यह सब कहने वाली उसकी अपनी समधिन थी । उजली की एक मात्र बेटा का विवाह उसके पांचवें बेटे से हुआ था, जो अब वावू होकर रामकृष्णपुरम् में जा बसा था । उसका अपना बड़ा बेटा तो उससे भी बड़ा बाबू था । ग्रेगुएट जो था । उस दिन उसने सारी बिरादरी में लड्डू बांटे थे । जात के वे कुम्हार जरूर थे, पर उसके ससुर तक ने कभी वर्तन नहीं बनाए । उसके मालिक को तो खिलौने बनाना भी अच्छा नहीं लगा । मकान बनाने के ठेके ही वह लेता रहा । खिलौने बनाती थी वस उजली । लेकिन उसने ठेके में जब खूब पैसे कमा लिए तो एक दिन उसने उजली का यह काम भी बन्द करवा दिया और उसे सर से पैर तक सोने में मढ़ दिया । इस ढलती उम्र में भी वह उन्हें एक क्षण के लिए नहीं उतारती...

सहसा उजली का हाथ गले के हार पर चला गया और उसीके साथ दिमाग में उभर आईं ढेर सारी स्मृतियां । घुप अंवेरे में पुराने दृश्य बड़े उजले हो उठते हैं । उस दिन बिदरावन बड़े बेटे के रिश्ते की बात करके आए, तो उजली ने सहज भाव से पूछ लिया, “सगे ने जहेज के लिए क्या कहा है ?”

“वस, रांड को पड़ गई जहेज की । बावली, मैं उससे जहेज की बात कहता ?” बिदरावन ने गर्व से सिगरेट का लंबा कश खींच के उसे देखा, “मैंने तो कह दिया कि बेटे को बी० ए० पास कराया है और रही तेरी बेटा, तो उसे सोने से मढ़ दूंगा । अब भक मारकर देगा । नाक की फिकर तो बावली, सभीको ही है !”

फिर एक मिनट जवाब की राह देखी । जब उजली ने कुछ नहीं कहा, तो बोले, “और सुन, न कुछ दें, बेटा उनकी बारबी में पड़े है । वो क्या कहें



है, ट्रेनिंग करेगी और स्कूल में पढ़ाएगी। हो, जरा रग खाँवला है, पर नाक-नका सब ठीक है। अच्छी नम्बी है और चरमा लगावे है ?”

यह सुनकर उजली खोप उठी, “हाम राम, चरमा लगावे है ?”

“भव पढ़ी-लिखी है तो चरमा लगावेगी ही। वैसे उसके चेहरे पर लगे अच्छा है।”

“पर....!”

“रहने दे राइ, यह पर-पर। कह दिया कि अच्छी लगे है....”

“मैं कहूँ हूँ, यह राइ-राइ कहना छोड़ दो भव, समझे। बेटो के सामने तो कहा, भव बहुतो के सामने कहोगे तो क्या लाज रहेगी ?”

बिंदरावन एकाएक ‘हो-हो’ कर हसे। बोले, “तेरी या मेरी।”

“तेरी या मेरी क्या दो हैं। मेरी गई सो तुम्हारी गई मो।”

“भव सुगाई की जात को क्या कहूँ। जिसके पास पैसे हैं। उसकी लाज को कोई खतरा नहीं।”

फिर एक क्षण रुके और गर्व से उजली की ओर देखकर पूछा, ‘क्यों, मैं गलत कहूँ क्या ?’

“तुम क्या कभी कुछ गलत कहो हो ? पर सुन लो, बहू के घाने पर पीने-खीने की बात मत करना।”

“फिर यही बात। मैं कहूँ हूँ राइ, दो मिनट कभी तो चुप होकर बात सुन लिया कर। जब देखो उपदेश देने लगे हैं। पीनेवाले देखे हैं तूने ! गर्वो-वालौ की तरह कभी मैंने पी है ? खोत, तू ही तो पितावे है। दो से तीसरा कटोरा दिया है कभी। भव तो कई-कई दिन हो जाएँ हैं।”

“बस भव बिलकुल बंद।”

कहकर उजली मुस्कुराई। बिंदरावन हसे, “हँ-हँ, मर्हीं नम्बरदार की।”

“बत सुनामद करनी कोई तुमसे सीखे।”

“देख नम्बरदार, कभी तेरी बात उलासी है। खोल, उलासी है कभी ?”



## ५२ मेरी प्रिय कहानियां

विदरावन बहुत मुग्न होने तो उजली को नम्रवरदार कहकर बुलाते । और यह भी सच है कि जब से उजली ने उनका अधिकार संभाला, तब से उसने उन्हें कभी बाहर नहीं पीने दिया । उजली को ये सचमुच प्यार करते थे । वह भागवान जो थी । उसने दो लायक बेटे दिए और उसका पैर ऐसे पड़ा कि लक्ष्मी माता साथ-साथ चली आईं । उसका मां-बाप का दिया नाम तो प्रसन्नी या प्रसन्दी था । रंग खूब चिट्ठा था, आखें बड़ी-बड़ी सलोनी । सो एक दिन बड़े गौर से देखकर उन्होंने कहा, “आज से तेरा नाम उजली रख दिया...”

दुखती रंग पर जैसे किसीने फाहा रंग दिया हो । उसने करबट बदल ली । पर रात के खतम होने के तो अभी कोई आसार नहीं थे । इसलिए घटनाओं का एक और जमघट उसके दिमाग में घुस आया । उस दिन जब बड़े बेटे जगदीश ने हायर सेकेण्डरी का सर्टिफिकेट लाकर दिया, और विदरावन ने जोर-जोर से पढ़ा, ‘जगदीशचन्द्र वर्मा सुपुत्र श्री वृन्दावन वर्मा,’ तो अन्दर ही अन्दर मन कुलाचे मारने लगा । बार-बार उजली से कहते, “देख, यह लिखा है, जगदीशचन्द्र वर्मा सुपुत्र श्री वृन्दावन वर्मा । विदरावन लिखा है, उजली नहीं । बड़ी डींग मारे है कि मेरे बेटे हैं ।”

उजली ने तड़ाक से जवाब दिया, “लिखने से क्या सचाई छुपे है ! बापों को डर लगे है, तभी तो जगें-जगें नाम लिखाते फिरें हैं ।”

पैरों के नीचे से जमीन खिसक गई । हाय राम यह अनपढ़ उजली ऐसा जवाब दे सकती है । ऐसा तीखा जवाब ! जहां गुदगुदी हो रही थी, वहीं आग लग गई । एक क्षण में अंधे हो गए । चीखकर बोले, “तो बदमास रांड, इसका मतलब है तू यारों के पीछे-पीछे भागी फिर है !”

उजली ने तीखी नज़र से उन्हें देखा । जी में आया फेंक मारे ऐसी ही दो-चार गालियां । लेकिन क्या जानकर चुप हो गई । वस आंखों में अंगारे भरे इतना ही कहा, “मत मुंह खुलवाओ खुशी के दिन । हां, कहूं...हूं...!”

एकाएक वे खिसिया गए । नज़र मिलाने तक का साहस नहीं हुआ । चुपचाप उठकर खिसकने में सलामती समझी । बहुत देर बाद लौटे, तो



धेला सड़दुधों से भरा हुआ था। कहने लगे, “पण्डित जी मिल गए थे, बोले, यह बहुत बली है, जगदीश को नौकरी मिल जाएगी।”

उजली ने धेला ले लिया। बोली, “पर वह तो भागे पड़गा। बी० ए० तक न !”

“हां-हां, वह तो पड़ेगा ही। मैं कब मना करूं हूँ और मेरा बेटा बी० ए० ही क्यों, एम्० भी पास करेगा।”

सचमुच जगदीश बी० ए० करने के बाद ही नौकर हुआ। जिस दिन पोस्टमैन ने नौकरी की बिट्टी लाकर दी, उस दिन वे जैसे खुशी के मारे उठे-उठे फिरे। इस घर, उस घर; इस पड़ोसी को पकड़ा, उस पड़ोसी को शाय बिनाई और जब साम्ब पडे बाहर से लौटे, तो गुच्छ थे। उजली देखते ही धौल पड़ी, “कूटे मेरे करम, फिर कही दूब घाए।”

“भरी, भाज मत बोल। भाज तो खुशी का दिन है। और क्या तू समझती है कि मैं नये मे हूँ। भरी बावली, भाज कई दिन के बाद होश आया है। ला दे...”

“भब क्या मेरा लून बियोगे ?”

“बदमाश राड, धक-धक करे जाय है। जब तक तू नहीं बिलाएगी, तब तक पूरी तरह होश थोड़े ही आएगा।”

और उस दिन पूरे चार प्याले पीकर उठे। दो अधिकार से मागे, फिर दो के लिए पैर पकड़ लिए। और उसके बाद रात-भर वह हंगामा बरपा किया कि लुशी की इन्तहा हो गई। कई दिन बाद उजली ने दूर के रिश्ते के एक बेटकल्लुफ खवा के सामने कहा, “बच्चा, मैं पीने को मना नहीं करती। पर कहूँ हूँ कि उतनी ही पी, जितनी भेल सके।”

“रहने दे, रहने दे, विद्रोयत को। मैं नहीं भेलता तो क्या तू भेलती है ?”

“हां, मैं तो भेलूँ ही हूँ। जिन्दगी-भर यही किया है। वह बात है बच्चा कि अपना भरण, जगत की हासी। अब किसके सामने जाकर रोज ?”

बच्चा ने विद्रोय-भरे स्वर में कहा, “भरी बावली, किसीके सामने



## ५४ मेरी प्रिय कहानियाँ

रोए दुश्मन । तेरे जाने किनने लायक हूँ । जगदीश बाबू बन गया, कन्हैया कॉलेज में गया । तू तो राज करेगी, राज । करने दे इसे मनमानी । हमेशा तेरी चिरीरी करेगा....”

बाबू विदरावन एकदम बोले, “निरीरी नया मैं अब नहीं करता ? यही एक काम मैंने जिन्दगी-भर नियम से किया है । तभी तो नम्बरदार का दिमाग चट गया । पर तू कह दे नच्चा, मैंने कभी होश खोया है या चूँह और सिरियाँ की तरों किसीको छेड़ा है ! मैं इसे कैसे समझाऊँ कि मैं तो पीता ही होश में आने के लिए हूँ । बिना पिये तू जाने, बदन टूटा रहे, मुंह में जायका नहीं, काम में मन नहीं । बुरे-बुरे खयाल आवें ।”

उजली ने धीरे से कहा, “सो तो ठीक है चच्चा, पर मैं न रोकूँ तो क्या ये अति नहीं करेगे । अब मैं कब तक बैठी रहूँगी । कोई अमर पट्टा तो लिखवा के लाई नहीं ।”

“और जैसे मैं ही लिखवा के लाया हूँ । अरे नम्बरदार, पता नहीं, कब कोन जाए ! सो हम अफसोस क्यों करें !”

चच्चा ने जोश में भरकर कहा, “अफसोस करें तुम्हारे दुश्मन । सारा मोहल्ला तुम्हारे भाग से ईर्ष्या करे है ।”

“सब नम्बरदार का प्रताप है ।”

“हां, हां, मेरा तो है ही,” उजली ने शरारत से हंसते हुए बाबू विदरावन की आंखों में सीधे भाँका । और भूमती-इठलाती अन्दर चली गई । बाबू विदरावन ने हंसते हुए कहा, “देख, देख चच्चा, इसका इतराना । मुझे तो कुछ समझे ही नहीं....”

उस गहन तमिस्रा में सुख की बातें याद करके उजली का जी कसकने लगा । जैसे बड़ई वरमे से पेंच को कसता हो और पेंच ऐंठ पै ऐंठ देकर लकड़ी को आरपार बँधता चला जाए । जगदीश नौकर हो गया तो बड़े अरमानों से उसका विवाह किया । कई दिन तक सिर से पैर तक सोने में लदी गर्व से सीना ताने घूमती रही । हरेक से कहा, “मेरी बहू, वो उता क्या कहें हैं



उमे, हां जी, एफ० ए० पाम है। ना भाभी, वह पत्नी ना करे है और बात यो है कि खजानो मे रहे हैं, औरों की तरों पदा वस हमारे साथ ही जाएगा। पर बहनी, एक बात बहुत अच्छी है। वह डेढ़ सौ रुपया महीना कमा सके है। बी० ए० कर ले, तो तीन सौ मिलेंगे। जगदीश तो बी० ए० बी० टी० कराने को कहें है।”

फिर तीन सात बहू को बी० ए० और ट्रेनिंग करने में लग गए। बी० टी० करने पजाम जाना पडा। हर महीने सौ रुपये का मनीऑर्डर कराये थी। छुट्टियों में छानी तो घागे-पीछे घूमती। जाती तो सामान उठाकर पीछे-पीछे तागे तक छोड़कर आती। वह नित नया जूडा बाधती। खुले मुह, खुले सिर घूमती। कई दिन तक चिरादरी में धजूबा बनी रही। मास्टरनी बन गई, तो घर मे नया कमरा बना, नया फर्नीचर आया। वह फूली-फूली फिरी...

एकाएक अपने को चौंकाती हुई वह जैसे अपने ही आपसे बोलती, और जब छोटे का विवाह किया था तो क्या मैं कम खुश हुई थी। वह बखिब था कि खूबमूरत बीबी लाएगा। गोरी-गोगे, मोटी-मोटी। भाभी जैसे साबली लम्बी नहीं। मुझे नहीं चाहिए पड़ी-सिखी...

जैसे हसी हो। खुद भी लाता बी० ए० में केन हो गए थे। पर भाग का खेप देखो। नई तरों के मकान बनाने मे ऐसा दीदा जुडा कि रुपया बरसने लगा और फिर तो मचमुच सिंगल होप की पद्मिनी लाया। उलती ने दांती तले उगली काटकर बार-बार बर्तया थी। फिर घर-घर जाकर सबको रसिककर लाई, “देख तो भाभी, बहू क्या है घूप का डला है। घर मे उजाला हो गया।”

बम्बई देकर पड़ोस की जिठानी बोली, “तेरे बड़े भाग बिदरावन की बहू। एक बहू आई तो मुरसती, दूसरी आई तो रती।”

मुरसती और रती कीन हैं, यह बहू बड़ी बहू से कई बार सुन चुकी थी। भाज उन शब्दों का प्रयोग करके जैसे उसने अपने को उनसे भी बड़ा साबित कर दिया।



## ५६ मेरी प्रिय कहानियाँ

रति का नाम मां-बाप ने बड़े प्यार से रमा रखा था और सोच-समझ-कर पैसेवालों के घर उसका विवाह किया था, जिसमें वह सोने में लदी रहे और उसे काम भी न करना पड़े। उन्होंने नृपचाप अपने दामाद से यह वचन भी ले लिया था कि वह ज़ारी के बाद अलग जाकर रहेगा। इसलिए तीन महीने भी न बीतने पाए थे कि छोटे बेटे श्री कन्हैयालाल ठेकेदार ने अपनी अम्मा से कहा, “अम्मा, मैं कन रमा को लेकर चंडीगढ़ जा रहा हूँ और अब वहीं रहा करूँगा।”

उजली को इस बात की आशंका तो थी, लेकिन इस आकस्मिकता से वह धक्-सी रह गई। यह ठीक है कि वह आसानी से नहीं झुकी थी। घर में कई दिन तक ठंडा तूफान घुमड़ता रहा था, पर रमा और कन्हैया ने उसकी ज़रा भी चिन्ता नहीं की। जैसे उन्हें सूचना देनी थी, दे दी।

जिस दिन वे गए, उस दिन उजली को बड़ी-बड़ी आँखों में खून डबलता रहा, पर मजाल कि छलक जाए। किसीने पूछा भी तो कह दिया, “चण्डीगढ़ में इस वार लम्बा ठेका लिया है। अब तुम जानो, खाने-पीने की दिक्कत ही है।”

भाभी हंसी, “अरी, सच क्यों न कहे कि नई-नई जवानी है। रति को कहीं अकेला थोड़े ही छोड़ा जा सकता है।”

उस क्षण मन मारकर वह भी हंस पड़ी थी और सच तो यह है कि उसे रमा के जाने का इतना दुख नहीं था, जितना आनेवाली विपत्ता का। आज रमा गई, कल मुरमुती भी चली जाएगी। उसके तेवर भी बहुत दिन से बदलते दिखाई दे रहे थे। विवाह को चार साल से ज़्यादा हो गए थे, लेकिन यह सारा समय वह पढ़ती ही रही या नौकरी की तलाश करती रही। घर में काम करना पड़ता, तो चिन-चिन कर उठती। बार-बार भीँककर कहती, “माताजी, मुझे यह गन्दगी अच्छी नहीं लगती।”

“और माताजी, आप पिताजी को समझातीं क्यों नहीं कि वे इस तरह गाली न दिया करें।”

“माताजी, आप बाबूजी से कहिए ना कि शराब पीना अच्छी बात



नहीं है।"

पहले-पहले तो उजली ने ये बातें मुस्कराकर सुनीं। कहा भी, "हां-हां, यह, तु ठीक कह रहे हैं। मुझे भी यह भाव अच्छा नहीं लगता है और मैं क्या कम समझाऊं हूँ? पर उनकी तो कुछ समझ में भावे ही नहीं है।" लेकिन जैसे-जैसे सरस्वती का आयु बढ़ने लगा, वैसे-वैसे उजली का मन भी विशेष से भरता चला गया, उसे बहू की बातें बुरी लगने लगीं और वह मन ही मन अपने पति का यबाव करने लगी। अब न उसे गाली देने में कोई घुराई मालूम होती थी, न शराब पीने में। इसलिए वह कभी-कभी बहू से बिगड़ भी जाती थी और दोनों में कहन-सुनन हो जाती थी। उसके लिए कारण बूझने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। मन में जब फांस गड़ जाती है, तो हरक से फोट लगने लगती है। इसलिए बहू ने अपने पति से कहा, "देखिए अब हमारा इस घर में रहना नहीं हो सकता। मैं तो माताजी का बिन-बिनाना सह सकती हूँ, बाबूजी की गतिमां भी सह जाती हूँ पर मजुल का क्या होगा। तीन साल का हो गया है। अब सब कुछ समझता है। बार-बार उसकी उधान पर ये गानियां माती हैं। वह बाबा को पीते हुए भी देखता है। इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। मैं नहीं चाहती कि मेरा बेटा अपने बाबा की तरह पिए या गालियां दे।"

जगदीश ने धीरे से कहा, "वह तो मैं भी नहीं चाहता..."

"नहीं चाहते तो बर्तार में क्यों नहीं चले चलते?"

"मां को छोड़कर?"

"जी हाँ! मां को छोड़ना ही होगा। आपको बुरा लगता है तो मुझे ही कह दो, मैं मजुल को लेकर चली जाती हूँ।"

जगदीश को अपने दिन अच्छी तरह याद थे। याद था उसे पिता की छाया से दूर रहने का मा का मकर्य। हमीलिए उसने उसी रात भाव से कहा, "तुम मकेसी क्यों जाओगी, पर मैं मा की बात सोच रहा था। उसे कितना दुल होमा --?"

सरस्वती ने बीच में ही बात काटकर कहा, "वह तो होगा। पर उसके



लिए अपने बच्चों को आधारा नहीं बनाया जा सकता !”

जगदीश बोला, “हां-हां, मैं इस बात से इंकार नहीं करता...पर”

वहू ने कहा, “फिर वही पर। तुम क्या छोटे भाई से भी गए-बीते हो। मां से गाफ बात भी नहीं कर सकते। यह तो तुम भी जानते हो कि कभी-कभी तुम्हारी जवान पर भी ये गालियां बुरी तरह आ चढ़ती हैं। हां, वह पीना तुमने अभी नहीं शुरू किया।”

जगदीश हंसा, “तुम्हें क्या पता ?”

सरस्वती भी हंसी, “मुझे सब पता है। तुम वह तो पी नहीं सकते, जो बाबूजी पीते हैं और विनायती शराब पीने के लिए तुम्हारी जेब में पैसे नहीं हैं।”

जगदीश ने दीर्घ निश्वास लीं, “तुम ठीक कहती हो; पर एक बात मैं तुमको बताता हूं। बाबूजी की इस लत से हमें बचाने के लिए मां ने क्या कुछ किया है, वह तुम नहीं जानतीं।”

वहू बोली, “उन्हें तो और कुछ करने को नहीं था। लेकिन मैं तो घर में नहीं रहती।”

कई दिन के बाद इधर-उधर की बातें करते हुए जगदीश ने उजली से कहा, “मां, यह मंजुल अब बहुत बिगड़ता जा रहा है। गाली देने लगा है।”

उजली ने अपने बेटे की ओर दो क्षण गौर से देखा, फिर मुस्कराकर बोली, “तू भी तो इसी तरह बिगड़ने लगा था।”

जगदीश को सहसा जवाब नहीं सूझा। कई क्षण नाखून से जमीन कुरेदता रहा। मां ही बोली, “जोरू के गुलाम, साफ-साफ क्यों नहीं कहता कि तेरी वहू का मन अब इस घर में नहीं लगता।”

जगदीश तिलमिला उठा। निमिष-मात्र में अंगार जैसे बहुत-से विचार उसके मन में आए, लेकिन अन्त में उसी शान्ति से उसने जवाब दिया, “कुछ भी समझ लो मां, तुम्हें भी परेशानी और हमें भी परेशानी। इससे क्या यह अच्छा नहीं होगा कि मैं क्वार्टर में चला जाऊं। अब तो मिल रहा है।”



उजली मुनकर घबसे रह गई। यह जानकर भी कि वह भूकम्प को रोकने की चेष्टा कर रही है, उसने चिन्चिनाकर कहा, "जाने वाले को कोन रोक सका है। तू भी जा। यह मैं जानती हूँ कि अगर कन्हैया न गया होता तो मेरी हिम्मत न होती। उसे घरी ने लुभा लिया। अच्छा है, मैंने तो हमेशा ही पापड़ बेले हैं। चिंता पर चढ़ने तक बेसती रहूंगी। तुम मुश रहो बेटे।"

जगदीश ने उस क्षण कोई जवाब नहीं दिया, लेकिन उसके बाद घर का वातावरण बिगड़ता ही गया। जरा-जरा-सी खान में महामारत मचने लगा। लेकिन त्रिभुवन जगदीश क्वार्टर में गया, उस दिन उजली फिर फूली-फूली फिरो। पाम-पटोस में यही कहा, "सरकारी नौकरी है। बेटे की क्वार्टर मिल गया है। जाना ही पड़ेगा। मैंने तो बहुत कहा, 'किसीको बसा दे,' पर बहुत, आजकल का जमाना, कोई शिकायत कर दे तो। इसलिए सोचा, जाना ही टोक होगा। वह तो बहुत रोवे है। मैंने कहा, 'घरे, शहर के शहर में हैं। कहीं दूर छोड़े ही हैं। घोर तुझे क्या, काम नियटा-कर चली आइयो। मेरा भी तो मजुल के बिना जी नहीं सकेगा।' "

पटोस की जिठानी बोली, "हा, कभी बह था जाए, कभी तू चली जाए।"

"ना जी, मेरा जाना कैसे होगा। अब एकाध दिन की बात दूमरी है, नहीं तो वे क्या कही रह सके हैं? उन्हें तो मैं ही भेज रही हूँ..."

सहमा उजली को लगा, जैसे कोई दूर में उसका नाम लेकर पुकार रहा है। कोन है। स्वर तो परिचिन-मा है। घोर पाग भी धावा जा रहा है। पर यह स्वर इतना तेज क्यों है...

उमने हड़बड़ाकर धावे मोल दी। फिर भीष ली। फिर सीपी। धामधाम फिर बिरपरिचिन धावाओं कानों में पड़ीं। मवेरे-मवेरे जलने-वाली घड़ीटियों में उठती बड़की गम नाक में घुस आई...

घोर लगे बह इसी दुनिया में, इसी घबने घर में है। घोर शब्द बिट्टा-



## ६० मेरी प्रिय कहानियां

बन उसे पुकारे जा रहे हैं। "अब उठेगी भी, रां...."

गवद पूरा नहीं कर सके। कई दिन से ऐसा ही हो रहा है। गाली मुंह पर आ-आकर फिसल जाती है। इस मन को उनके अनाया और कोन पकड़े रहता है। वे अब उसी तेजी से गालियां क्यों नहीं दें पाते? क्या बूढ़े हो गए हैं....?

इस वहम से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने धाराव की मात्रा बढ़ा दी। अब वह अक्सर बाहर से ही गुच्च होकर लौटते हैं। फिर देर तक रोना-पीटना मचता रहता है।

लेकिन धीरे-धीरे उजली में फिर एक परिवर्तन आने लगा। वह अब चुप रहने लगी। उसने अपने-आपको फिर खिलीने बनाने में व्यस्त कर दिया। विशेष रूप से बड़े-बड़े बयुए बनाने में। पहले से भी अधिक तन्मयता से वह अब कागज कूटती, लुगदी तैयार करती, फिर सांचों में ढालती और देर तक बैठी हुई उनके किनारों को साफ करती रहती। वह अब उन्हें पहले की तरह मिट्टी के टब में नहीं ढाल देती थी, बल्कि घंटों बैठी-बैठी गिलास से उनके ऊपर धोली हुई खड़िया मिट्टी ढालती रहती और सोचती रहती। इधर-उधर जहां कहीं कटा-फटा दिखाई देता, बार-बार उसे ठीक करती और फिर बड़ी सुघड़ता से धीरे-धीरे रंग लगाती। उस समय वह इस तरह डूब जाती कि लगता जैसे कोई सिद्धहस्त चित्रकार चित्र बना रहा है। जब उसकी पहली खेप तैयार हुई, तो बाबू विदरावन की आंखें उनपर जाकर अटक गई। बोले, "अरे, ये बयुए तुम कहां से ले आई?"

उजली ने हंसकर जवाब दिया, "जहां से तुम्हें ले आई थी। घर में रहते हुए भी तुम्हें पता नहीं रहता। आज ही तो बनाकर तैयार किए हैं।"

"सच, ये तुमने बनाए हैं?"

"जी नहीं, तुमने बनाए हैं।"

"ऐसा लगे है जैसे मशीन में तैयार हुए हैं।"

जिसने भी देखा, उसने यही कहा। उजली की छाती कई इंच फूल



गई। उससे भी अधिक उरमाह से उसने दूसरी छेप तैयार की। सामने की जिठानी की बहू ने मजाक भी किया, “भाभो जी आजकल थड़े जोश में हैं। बड़ी तेजी से सृष्टि कर रही हैं।”

उजली भी नहीं चुकी, “देख ले बहू, बूढ़ापे में भी तुमसे मुकाबला कर सकूँ।”

“रहने दो भाभो जी, पाच तो हो चुके हैं मेरे। आप वो दो में ही हार गई थी।”

जी में आया तटका ने जवाब दे मारु कि तेरे पाच से मेरे दो कितने घटे हैं। पर हसकर रह गई। अंतर में कोई कसक थी न। उसीने जैसे उसकी शक्ति को मज्ज कर दिया। धीरे जब दूकानदार लुगी-लुगी मुह भागे जैसे देकर अबुओं को उठाकर ले गया, तो वह मन्दर कीठी में जाकर मुक्क-मुक्ककर रो उठी।

इस बार मेला बहुत अच्छा हुआ। सारा मोहल्ला लुग था। लेकिन खोहार बीता, तो फिर शानी-गमोज, मारपीट होने लगी। सिरिया और चन्दू अब्दुल सराफ में गुस्सा होकर मोहल्ले की तरफ उठा लेंते। लेकिन उजली फिर भी पहले की तरह ही काम में लगी रही। उसके अबुए और भी अच्छे बनने लगे। परन्तु इस बार उसने केवल पांच अबुए तैयार किए। प्यादा कर ही नहीं सकी, क्योंकि जिस प्रकार उसने अश-प्रत्यंग को साबो में ढाता, रंगो का मेल निमाने में जिस प्रकार परिश्रम किया, वह सब देखते ही बनता था। उसे काम करते देखने के लिए पड़ोसिनें उसे घेरे रहने लगी। पर उनकी चुहलबाजी भी उसका ध्यान न बढ़ा पायी। एक दिन जिठानी ने कहा, “हाय, मैं मर जाऊँ। कैसे जी-जान में लगी है। जैसे विरान डाल देगी। ऐं रो, ऐसी लगन से तो तने खपने जाये भी नहीं पाले होंगे।”

रंग भरने में बंसी ही तत्परता से व्यस्त उजली ने जवाब दिया, “ये क्या मेरे जाने नहीं है?”



सचमुच उसने उन्हें अपने गेट के बच्चों की तरह ही सजाया। तभी तो जिस दिन वे बनकर तैयार हुए, उस दिन वह फूली नहीं समाई। हंसते-हसते बोली, 'देग लो भाभो, आदमी क्या नहीं कर सकता। अब ये मैंने ही तो बनाए हैं।'

भाभो ने कहा, "अरी तू तो हमेशा से ही ऐसी ही रही है। तूने कभी जो चाहा हो, और वह न हुआ हो। पर नजर न लगे बहू, बबुए बने बड़े खूबसूरत हैं। पांच-पान से कम मैं न दिकेंगे।"

उजली बोली, "पांच की बात करो हो। दस से कम नहीं लूंगी। अभी तो देखती जाओ, आंखों के रंग पूरे नहीं हुए हैं।"

"हाय राम, अभी कुछ और करना बाकी है। राम मारी ऐसी सुन्दर आंखें हैं कि उठा के चूमने को जो करे है।"

"छाती में भरने को नहीं करे है?"

"सच, ऐसा मन करे है कि गोद में लिटाकर एकटक इन आंखों को देखती रहू।"

दूसरी गद्गद होकर बोली, "अरी, तूने तो जैसे मेरे मन की बात कह दी।"

तीसरी, चौथी, पांचवीं सभी ने यही कहा। जब तक फैसनेबुल दूकान का मालिक सीदा तय नहीं कर गया, तब तक वे बेजान खिलौने मोहल्ले की ज़िन्दगी में जान डाले रहे। उस दिन मोहाविष्ट-सी उजली ने भी दूकान के मालिक से कहा, "आज नहीं, कल आकर ले जाना।"

उस दिन छुट्टी थी। जगदीश सपरिवार आया था। कन्हैया भी वहाँ के साथ आया हुआ था। वेटे, बहुयों सभी ने उजली की कला की खूब तारीफ की। सरस्वती ने चिरोरी करते हुए कहा, "अम्मा, हमको भी तो बनाकर दो।"

छोटी बोली, "हाँ, हाँ अम्मा, ये तो बड़े प्यारे हैं।"

उजली बड़े जोर से हँसी, "अरी, तुमको तो तुम्हारे प्यारे मैं कभी के बनाकर दे चुकी।"



दोनों बहुत सजा गई और अन्दर घाते हुए बाबू बिन्दरावन बड़े जोर से 'हो-हो' करके हस पड़े। बोले, "पर भाई, इन्हें भी लेने खरीदार भा पड़ना है।"

फिर पीछे मुड़े, "भाभी भाई, ले जाओ। अभी तो रखे हैं। किसीकी नजर लग गई तो..."

भादमी पैकिंग-केस लेकर आया था। उजाली ने बड़े ध्यान से सम्भाल-कर पहला बबुआ उसकी दिया, लेकिन तभी न जाने क्या हुआ, बड़े जोर से उसके हाथ का धक्का लगा और बबुआ भादमी के हाथ से नीचे भोगन में गिरकर चूर-चूर हो गया...

सब जैसे सकत में आ गए। लेकिन उजाली के चेहरे पर अब भी उसी तरह शान्ति थी। उसने एक क्षण उन टुकड़ों की ओर देखा, दूसरे क्षण दूसरा बबुआ उठाया और उन टुकड़ों पर पटक दिया, फिर तीसरा, चौथा और पाचवा भी उठाया और पटक दिया। और फिर कुछ स्थर में कहा, "टूट गए तो टूट जाने दो, मैंने ही तो बनाए थे, और बना लूंगी, दस दिन बाद आकर ले जाना भाई।"

और जैसे कुछ हुआ ही न हो, किसी ओर देखे बिना उसी सादगी से मुड़कर कोठरी में चली गई।



## जरूरत

सहायता-केंद्र में धीरे-धीरे सन्नाटा घहराने लगता है। कर्मचारी सामान समेटने में व्यस्त हो जाते हैं।

कुछ क्षण पलले यहां स्त्री-वच्चों और बूढ़ों की एक भीड़ इकट्ठी हुई थी। एक असहाय-वेवस, मंत्र-कीलित भीड़, भूख जैसे दीमक बनकर उनके अस्तित्व को चाट गई थी। वह निरीह दृष्टि, हताशा से घूसर सपाट चेहरे, शून्य में झांकने में भी मानो उन्हें कष्ट हो रहा था। वे न इनसान थे न लार्शें, धिनौने आकार-मात्र थे जो केवल इतना कह सकते थे, “गरीबों को देखने वाला कोई नहीं है।”

वे पंक्तिबद्ध भी नहीं बैठे थे। बस बैठे थे। उनके सामने पत्ते पड़े थे और हर पत्ते पर एक रोटी, एक मुट्ठी सोयाबीन और थोड़ा-सा वाजरा था। जिसके पत्ते पर कुछ नहीं पड़ा था वह मांग नहीं रहा था। टुकर-टुकर देखना ही जैसे उसकी नियति हो। हां, नंग-धड़ंग दुबले-पतले भुक्कड़ वच्चे उन पत्तों पर टूट पड़े थे। मगर उनके चेहरों पर भी मुसकान की कोई रेखा नहीं थी। शिशु में जो कुछ तरल होता है, उस सबको भूख ने जैसे सोख लिया था। बस शेष रह गई थी एकमात्र मौत की डरावनी छाया, जो अपने डैने फैलाए समग्र अस्तित्व पर छाई हुई थी। वातावरण में श्मशान की चिरायंघ भरी हुई थी और दूर-दूर तक क्षितिज को छूती हुई



फैली पड़ी थी सूखी जमीन, जहाँ जानवर चारे के प्रभाव में थककर गिर जाते, आकाश में गिद्धों और कौब्रों की टोली डेने पसारती, धरती पर कंकाल (कुत्ते) हाफ-हाफकर ऐसे भीकते कि उनकी घबल दंत-पकितया छाती में सालने लगती ।

भ्राज भ्रादमी मर गया है । काश, परमेश्वर मर जाता ! तब उसे कोई पुकारता तो नहीं । उसकी मोहिनी माया के पीछे अपनी असमर्थता को छिपाकर भूलें यह तो न कहने, "हे परमेश्वर, ऐसा कभी नहीं देखा !"

धीरे जो सपना है, उन्हें यह घोषणा करने का साहस न होता, "भ्रादमी को खिलाए, ऐसे किस बाप के बेटे ने जनम लिया है; भगवान जिसको चाहे खिलाए, जिसको चाहे मारें ।"

उसी भगवान के राज्य में भ्रादमी ने भ्रादमी को उस दशा तक ला दिया कि धरती मा की छाती भी दरक गई और उसके भीतर छिपा हुआ कष्ट कुहरे-सा उबल-उबलकर सबको घसने लगा । घान, बाजरा और मक्का किसीमें दाना नहीं पड़ा । जो बेहरे हंसने के लिए गढ़े गए थे, उनपर एक बैसाबाज धीरे-धीरे उभर आया, लेकिन इसीलिए वह इतना मुखर है कि उसका आक्रोश-भरा चीत्कार बार-बार छाती में बज उठता है । उसीकी सुनकर देश-देश के लोग उनकी भूख पाटने को यहां आ पहुंचे हैं ।

बलने-फिरते मुरदों की यह भीड़ जब यहां से जाने लगी थी, तब भी उनकी आंखों में वैसे ही निरपेक्ष उदासी तैर रही थी । भगला क्षण विक-राल मुंह घाए उनके अस्तित्व को निगलने को आ खड़ा था । खाली भविष्य में आकती हुई इन भूमिपुत्रों की ये खाली दृष्टियाँ...

बीज का धान तक वे खा चुके थे । ऊपरियों के बेर भी पकने से पहले ही खरम हो गए थे । एक रोटी और एक मूट्टी सोयाबीन इतना-भर ही धान उनके लिए ऐश्वर्य का स्वप्न हो गया था । घुटनों से टूट्टी जुड़ा-कर जितनी देर सो सकने, उतनी ही देर वे नये धान के सपने देखकर खुश हो सते थे । उतना-भर ही उनका अपना था, कपटों के मदस्यन में



आशा के मरुस्थान जैसा ।

दूर-दूर तक ऊबड़-खाबड़ धरती फैली पड़ी है, कभी-कभी कराहती हुई हवा उसपर घूल उड़ा जाती है । कर्मचारी कई क्षण बिना बोले ही सब कुछ समेटते रहने हैं । फिर एकाएक जोर-जोर से बातें करने लगते हैं । वही अकाल, भुलमरी और मौत की बातें । संध्या अभी भी दूर है, शायद कोई और आ जाए । इसीलिए बीच-बीच में वे दूर गांव की दिशा में देख लेते हैं । उजड़ी-प्रचउजड़ी भोंपड़ियां, उनपर फैले गंदे चिथड़े, मिट्टी के बिना लिपे-पुने, टूटे घरोंदे, दूर से किसी आगत आतंक से प्रतीक-से प्रतीत होते हैं । उधर से होकर ही वह भीड़ आई थी, उधर से ही कोई और भी आ सकता है ।

समय धीरे-धीरे इस अनचाही प्रतीक्षा में रेंगता रहता है और कर्मचारियों के मन उचटने लगते हैं । तभी सहसा उनमें से एक बोल उठता है, "वह देखो, वह एक औरत आ रही है ।"

वह औरत ही है । छोटे-छोटे उलझे वाल, कीच-भरी बुझी-बुझी-सी आंखें, भूख उसके सूजे हुए मुंह पर सलवटें नहीं डाल पाई, पर जगह-जगह जैसे खाल जमकर फट गई है । पूरे बदन पर मौत की जकड़न तेज हो रही है । चलते-चलते लड़खड़ाती है । एकमात्र धोती, अगर उसे धोती कहा जा सके, तार-तार होकर कंधे से खिसक गई है ।

वह धीरे-धीरे पास आती है । फिर एकाएक ठिठक जाती है और टोली से बिछुड़ी मरताऊ बछिया-सी खाली-खाली दृष्टि से एकटक केंद्र की ओर देखती रहती है । न पास आती है, न कुछ मांगती है । दो क्षण कर्मचारी भी कुछ नहीं बोलते, फिर उनमें से एक उसके पास जाकर कहता है, "अब तक कहाँ थी ? आ, इधर बैठ ।"

वह यंत्रवत् उस स्थान पर बैठ जाती है । कर्मचारी उसके सामने पत्ता रख जाता है, फिर रोटी, बाजरा, सोयाबीन । खाने वाला अब और कोई नहीं है । इसलिए कर्मचारी उदार हो उठता है । बार-बार कुछ न कुछ रख जाता है और वह मुंह में घास डालकर चबाती तक नहीं है । बिना



कोई स्वाद लिए ही निगलती जाती है। भुख का मानो स्वाद से कोई संबंध ही नहीं है।

एकाएक एक कर्मचारी उससे पूछता है, "कब से नहीं खाया?"

उत्तर थोठों पर कापकर रह जाता है। कर्मचारी अपना प्रश्न फिर दोहराता है, "कब से नहीं खाया?"

वह बुदबुदाती है, "पता नहीं?"

"भात कब खाया था?"

"याद नहीं।"

"तुम्हारे भीर कोई है?"

उत्तर एक बार फिर थोठो पर कापकर रह जाता है, पर दृष्टि में सरल जैसा कुछ नहीं है। क्षणिक सधर्प के बाद वह फिर उमी तरह बुद-बुदाती है, "यहू धी, तीन बच्चों के साथ कुएं में कूदकर मर गई।"

ऐसी बातें झगर भस्वाभाविक नहीं हैं। एकाएक कोई चीकता भी नहीं, फिर भी उसके मुह से यह सुनकर वह कर्मचारी एक क्षण के लिए झबूझ-सा हो रहता है। उसके बाद ही पूछ पाता है, "बेटा कहा है?"

वही निःसंग उत्तर, "कलकत्ता में मिल में काम करता है।"

कर्मचारी झुपचाप भीर खाना परोस देता है। वह उसे भी बड़े धीरज के साथ निगल जाती है। ककाल की क्षुपा-तृप्ति का भयं नहीं जानती। भालिर जब वह उठती है तो कर्मचारी को निमिष-मात्र के लिए उसके गूर्ज चेहरे पर सलग्न तृप्ति की भुमकान का आभास-सा होता है, मानो जलती घरती पर वर्षा की कोई बूद टपक पड़ती है। वह जिघर से झाई धी उधर ही लौट चलती है। नङ्खडाहट जरा भी कम नहीं हुई है। उसके गंदे, उलझे, छोटे-छोटे बाल पीछे से भीर भी बितृष्णा पैदा करने हैं। वह धीरे-धीरे चलती रहती है। कर्मचारी उसे देखते रहते हैं, लेकिन दृष्टि से मोहन होने से पूर्व नारी का वह आकार घरती पर बैठ जाता है, निश्चेष्ट, निडाल...

कर्मचारी कह उठता है, "बेचारी!"



## ६८ मेरी प्रिय कहानियाँ

किसी सीमा तक संतुष्ट होकर वे सब फिर काम में व्यस्त हो जाते हैं। काफी देर तक उस ओर कोई नहीं देगता, पर उसकी उपस्थिति के प्रति सभी गजब हैं। कई क्षण बाद आकूल दृष्टि अपने-प्राण ही उधर उठ जाती है। पता लगता है कि वह अभी तक वहीं बैठी है। एक कर्मचारी कहता है, "पेट-भर खाने के बाद की थकान सचमुच बड़ी भयानक होती है।"

दूसरा अनुमोदन करना है, "और फिर इतने दिन बाद खाया हो तब तो..."

तीसरा मुस्कराना है, "इसे कुछ थोड़ा खाना चाहिए था।"

एकाएक उन तीनों को लगता है कि वे इसी बात पर ठहाका लगाएं, लेकिन जैसे अदृश्य अपना हाथ उनके मुँह पर रख देता है। कुछ क्षण फिर व्यतीत हो जाते हैं। वह वहीं लेटी रहती है। शायद जाने के लिए कोई स्थान नहीं है। कर्मचारी के मन में एक अजीब-सी संवेदना उभरने लगती है। एकाएक एक विचार काँव जाता है, 'जरा देखूँ तो। न हो इस केंद्र में ही पड़ी रहेगी।'

और वह उसके पास पहुँचता है। पाता है कि ढेर की ढेर मक्खियाँ उसे घेरकर उत्सव मना रही हैं। और असंख्य कीड़े-मकोड़ों ने उसे जैसे ढक लिया है। एकाएक घबराकर वह उसके ऊपर झुक जाता है और उसके मुँह से एक चीख निकल जाती है। दूसरे ही क्षण केंद्र से कई व्यक्ति भागते हुए वहाँ आ जाते हैं। वे सब एकसाथ झुककर देखते जाते हैं। फिर सिर हिला-हिलाकर वारी-वारी से दीर्घ निश्वास करते हैं। एक कहता है "मर गई बेचारी!"

"तृप्ति भी अकसर प्राण ले लेती है।"

"बेचारी न जाने कब की भूखी थी! इसीलिए पेट-भर खाना पचा नहीं सकी।"

"पर कुछ भी हो, भूखी नहीं मरी।"

फिर सब चुप हो जाते हैं। अंतर की मनचाही गाढ़ी-गाढ़ी वेदना सब-



के चेहरो पर उमर आती है, मानो सन्नाटा कराह उठा हो। व्यवस्थापक चुपचाप जाते हैं और केंद्र से एक चादर लाकर उसे सिर से पैर तक ढक देते हैं। कर्मचारी को बुलाकर कहते हैं, "मे तो अब जा रहा हू, लेकिन तुम इसकी प्रत्येक घंटा का प्रबन्ध कर देना।"

और जाते समय जेब से निकालकर पचास रुपये दे जाते हैं। रुपये देते हुए सबमुख उनके नयन सजल हो उठते हैं। मुख पर दीप्ति उमर आती है। चारों ओर दृष्टि उठाकर इस प्रकार देखते हैं मानो उन्हें पूर्ण नृत्ति मिल गई हो। सिर झुकाकर और हाथ जोड़कर छव को प्रणाम करना भी वे नहीं भूलते। लेकिन चिरायध जरा भी कम नहीं हुई है।

गाव में घोरतें ही घोरतें हैं, बूढ़ी, मधेड़, जवान औरतें। मर्द के नाम पर दुबले-पतले, सहमे-सहमे भुङ्गल बच्चे या ठठरी बने हुए कुछ बूढ़े, जो बस खासते ही रहते हैं। दोप सब मर्द कमाने गए हैं। जो दो मधबूढ़े दिखाई देते हैं, वे बीमार होने के कारण अभी-अभी शहर से लौटे हैं। डाक्टर ने उन्हें कोई इन्जेक्शन लगवाने और दूध पीने को कहा था। सुनकर वे हस पड़े थे। उतर दिया था, 'दूध तो घाल घाजने को भी नहीं है डाक्टर साहब। मुट्ठी-भर बेर भी नहीं हैं। मा की छाती दरक गई है। वह सब-कुछ निगल गई है। यथा-स्तुता शहर में चला गया।"

उन्हींके पास पहुंचकर कर्मचारी ने कहा, "उधर एक घोरत मर गई है। उसकी प्रत्येक करनी है। सामान कहा मिलेगा?"

एक मधबूढ़े ने जबाब दिया, "पास ही सब कुछ मिल सकता है। पैसा होना चाहिए।"

कर्मचारी ने उत्तर दिया, 'व्यवस्थापक पचास रुपये दे गए हैं, तुम मेरे साथ चलो।"

पचास रुपये का नाम सुनकर एकाएक उन दोनों की आँखें फट जाती हैं। गहर-गहर करते कई क्षणों तक अवाक्-मूक देखने रहने हैं। फिर एकाएक उनमें से एक तेजी से ओपड़ी के अन्दर घुस जाता है और दूसरे ही क्षण लाठी लेकर उस हन्रभ कर्मचारी पर दूट पड़ता है। रुपये छीन



## ७० मेरी प्रिय कहानियां

लेता है। मचरज कि उसका साथी कुछ नहीं कहता ! यह भी नहीं देखता कि कर्मचारी के कहां चोट लगी है। रुपये लेकर दोनों तेजी से गहर वाली सड़क पर दौड़ पड़ते हैं। बिजली कीवने जितने क्षणों में यह सब-कुछ घट जाता है।

तीसरे दिन जब पुनिस उन दोनों घबराड़े व्यक्तियों को गिरफ्तार करती है तो वे बेभिन्न उत्तर देने हैं, "जी हां, हमने ही रुपये छीने हैं। मांगते तो हमें मिलते नहीं। नाश की टाट का कफन मिले या रेशम का, मिले भी या न मिले, क्या फर्क पड़ना है, पर हमें जीने के लिए रुपयों की सख्त जरूरत थी, डाक्टर साहब से पूछ लीजिए।"



## राजम्मा

आहट पाकर देखता हू कि सामने राजम्मा खड़ी है। उसी क्षण भूकम्प का तीव्र आवेग मुझे सिर से पैर तक कम्पायमान करता हुआ निकल गया। विस्फारित नयन उसे ठीक तरह से देख पाऊ कि वह बोस उठी, "बयो, आश्चर्य हो रहा है?"

और फिर सहज भाव से मिलखिलाकर हंस आई। फिर दूसरे ही क्षण उसी आकस्मिकता के साथ मौन भी हो गई। मैं अब भी हतप्रभ उसे देखे जा रहा था। सब कहूं, उसका नाम राजम्मा नहीं, बया है, यह नहीं बताऊंगा क्योंकि वह नाम और भी अनेक नारियों का है। तभी एकाएक उसने कहा, "बया मुझे बैठने के लिए भी नहीं कहोगे?"

मैं तुरन्त अपराधी-सा बोला, "घाघो-घाघो, बैठो। घर में कोई नहीं है, इस समय कैसे आना हुआ। नारायणन कहा है...?"

वह फिर हसी और फिर पहले ही की तरह चुप होकर बोली, "नारायणन आज दोरे पर गए हैं। इस बार मेरा जाना नहीं हुआ। उनकी गाड़ी रवाना हुए तीन घंटे बीत चुके हैं। अब लौटने की कोई आशा नहीं।"

अब तक वह सहज भाव से सोफे पर बैठ चुकी थी और मेरे इतना पास थी कि मैं उसके स्वाम की गन्ध अनुभव कर सकता था। मैंने व्यर्थ ही हंसने की चेष्टा की, कहा, "जान पड़ता है नारायणन के बिना तुम्हारा



## ७० मेरी प्रिय कहानियां

लेता है। अचरज कि उसका साथी कुछ नहीं कहता ! यह भी नहीं देखता कि कर्मचारी के कहां नोट लगी है। रुपये लेकर दोनों तेजी से शहर वाली सड़क पर दौड़ पड़ते हैं। बिजली कौंधने जितने क्षणों में यह सब-कुछ घट जाता है।

तीसरे दिन जब पुलिस उन दोनों अबबूढ़े व्यक्तियों को गिरफ्तार करती है तो वे बेभिन्नक उत्तर देने हैं, “जी हां, हमने ही रुपये छीने हैं। मांगते तो हमें मिलते नहीं। लाश को टाट का कफन मिले या रेशम का, मिले भी या न मिले, क्या फर्क पड़ता है, पर हमें जीने के लिए रुपयों की सख्त जरूरत थी, डाक्टर साहब से पूछ लीजिए।”



## राजम्मा

घाहट पाकर देखता हू कि सामने राजम्मा खड़ी है। उसी क्षण भूकम्प का तीव्र आवेग मुझे सिर से पैर तक कम्पायमान करता हुआ निकल गया। विस्फारित नयन उसे ठीक तरह से देख पाऊ कि वह बोल उठी, “क्यों, भावचर्य हो रहा है ?”

घोर फिर सहज भाव से सिलसिलाकर हंस आई। फिर दूसरे ही क्षण उसी आकस्मिकता के साथ मौन भी हो गई। मैं अब भी हतप्रभ उसे देखे जा रहा था। मच बहूँ, उसका नाम राजम्मा नहीं, क्या है, यह नहीं बताऊंगा क्योंकि वह नाम घोर भी अनेक नारियो का है। तभी एकाएक उसने कहा, “क्या मुझे बैठने के लिए भी नहीं कहोगे ?”

मैं तुरन्त अपराधी-सा बोला, “आमो-आमो, बेटो। घर में कोई नहीं है, इस समय कैसे आना हुआ। नारायणन कहाँ है...?”

वह फिर हंसी और फिर पहले ही की तरह चुप होकर बोली, “नारायणन आज बीरे घर गए हैं। इस बार मेरा जाना नहीं हुआ। उनकी गाड़ी खाना हुए तीन घंटे बीत चुके हैं। अब लौटने की कोई आशा नहीं।”

अब तक वह सहज भाव से सोफे पर बैठ चुकी थी और मेरे इतना पास थी कि मैं उसके दबाव की गन्ध अनुभव कर सकता था। मैंने व्यर्थ ही हंसने की चेष्टा की, कहा, “जान पड़ता है नारायणन के बिना तुम्हारा



मन नहीं लगा और तुम इधर चली आई।”

वह एकाएक बाली नहीं। शून्य में भाँकती रही। एक-दो बार कन्-खियों से मुझे देख लेने पर ही उसने कहा, “यदि सच बोलने की आज्ञा दो तो मैं कहूँगी कि मैं इसलिए नहीं आई।”

“फिर ?”

“यह क्या बात है कि आते ही गणितज्ञ की तरह दो और दो चार वाला हिसाब करने लगे। कॉफी को भी नहीं पूछा। ना-ना उठो मत, वह काम मैं बहुत अच्छी तरह कर सकती हूँ। शमिष्ठा कहाँ क्या रखती है, यह सब मुझे मालूम है।”

उत्तर की अपेक्षा किए बिना वह उठी और रसोईघर की ओर बढ़ गई। मैं जानता हूँ कि उसे कॉफी की इतनी इच्छा नहीं थी, जितनी मुझसे दूर जाने की। लेकिन यह क्या, उठते न उठते उसके मुँह से ‘आह’ निकल गई। मैंने हठात् विचलित होकर उसकी ओर देखा। उस क्षण उसका चेहरा दर्द से सफेद हो आया था। परन्तु दृष्टि मिलते ही वह मुक्त भाव से हँसी और पीड़ा जो थी वह घनीभूत होकर आँखों में केन्द्रित हो आई। मैं लगभग पागल जैसा हो उठा। बोला, “क्या बात है भाभी। सच कहो। मैं तब तक तुम्हें कहीं नहीं जाने दूँगा।”

राजम्मा धीरे से बोली, “बात तो तुम जानते हो।”

“मैं जानता हूँ? नहीं तो। मैं तो कुछ भी नहीं जानता। क्या तुम्हारी लवीपत खराब है या कहीं चोट लग गई है?”

वह इस बार मुस्कराई। पिछले कई वर्षों में मैंने उसको किसी असाधारण अवसर पर ही मुस्कराते देखा था। नहीं तो वह सदा खिलखिलाती रहती थी। उसने मुस्कराकर कहा, “क्यों, क्या तुमने नारायणन से यह नहीं कहा कि मैं तुमसे इस तरह बातें करने लगी हूँ जैसे कि तुम मेरे प्रेमी हो...”

दर्पण सामने होता तो निश्चय ही मैं अपने चेहरे पर राख पुती हुई पाता। रंगे हाथों पकड़े जाने पर किसीकी जो दशा होती है, वही मेरी



भी हुई। अन्तर का तुमुल नाद मुझे कपाने लगा। मैंने अनुभव किया जैसे मैं हाकने लगा हूँ। परन्तु प्रत्यक्ष मैंने मैंने दृढ़ होने का नाटक करने हुए उत्तर दिया, "मैंने ठीक यही तो नहीं कहा था। पर जो कहा था उसका यह अर्थ निकाला जा सकता है।"

वह वैसे ही मुस्कराती हुई बोली, "सुनकर आश्चर्य हुआ। नारायणन ने ठीक किया।"

"क्या किया नारायणन ने?"

"देखो," उसने कहा और घुटने तक साड़ी उठा दी।

देखता हूँ, वहाँ एक बड़ा-सा घाव है, जिससे बहकर रक्त इधर-उधर जम गया है। घास-घास काफ़ी सूजन है। एक तीली कड़वाहट भरी रंग-रंग में सुलग उठी। मैंने धीसकर कहा, "यह क्या है?"

"तुमने अदालत में भुझपर अभियोग लगाया था। जज ने उसीकी सजा दी है।"

मैंने उसी कड़वाहट से कहा, "घूट, जानवर। उसने तुमको मारा। माना कि..."

मैं अपना वाक्य पूरा कर पाता कि वह हस पड़ी। कई क्षण तक हँसती रही, बोली, "आप मानते हैं कि मैं अपराधिनी तो हूँ पर मुझे दण्ड नहीं देना चाहिए था। लेकिन जो न्यायाधीश अपराधी को दण्ड न दे, वह तो कर्तव्य से च्युत होगा न। नारायणन ने मुझे ठीक ही दण्ड दिया। वैसे वह मुझे मारना चाहता नहीं था। बेबारा अन्तरमन से मजबूर हो गया और कील ठोकने के लिए लकड़ी का जो लौंदा उसने उठाया था, वही उसने मुझ-पर फेंक मारा।"

"उने ऐसा नहीं करना चाहिए था। मैंने वह बात गम्भीरता से थोड़े ही कही थी।" फिर एकाएक बोला, "छोड़ो-छोड़ो, इस भगड़े को। तुमने दवा क्यों नहीं लगाई? रक्तो, मैं अभी देखता हूँ, घर में क्या है। न हो तो मैं अभी बाजार जाकर भरहम ले आता हूँ। तुम तब तक बाँकी तैयार करो।"

मैं तेजी से उठा और उसी तेजी से वह बोली, "न, न, साधारण चोट



## ७२ मेरी प्रिय कहानियाँ

मन नहीं लगा और तुम इधर चली आई।”

वह एकाएक बोली नहीं। धून्य में भाँकती रही। एक-दो बार कन-खियों से मुँहे देख लेने पर ही उसने कहा, “यदि सच बोलने की आज्ञा दो तो मैं कहूँगी कि मैं इसलिए नहीं आई।”

“फिर ?”

“यह क्या बात है कि आते ही गणितज्ञ की तरह दो और दो चार वाला हिसाब करने लगे। कॉफी को भी नहीं पूछा। ना-ना उठो मत, वह काम मैं बहुत अच्छी तरह कर सकती हूँ। शर्मिष्ठा कहाँ क्या रखती है, यह सब मुझे मालूम है।”

उत्तर की अपेक्षा किए बिना वह उठी और रसोईघर की ओर बढ़ गई। मैं जानता हूँ कि उसे कॉफी की इतनी इच्छा नहीं थी, जितनी मुझसे दूर जाने की। लेकिन यह क्या, उठते न उठते उसके मुँह से ‘आह’ निकल गई। मैंने हठात् विचलित होकर उसकी ओर देखा। उस क्षण उसका चेहरा दर्द से सफेद हो आया था। परन्तु दृष्टि मिलते ही वह मुक्त भाव से हंसी और पीड़ा जो थी वह घनीभूत होकर आंखों में केन्द्रित हो आई। मैं लगभग पागल जैसा हो उठा। बोला, “क्या बात है भाभी। सच कहो। मैं तब तक तुम्हें कहीं नहीं जाने दूँगा।”

राजम्मा धीरे से बोली, “बात तो तुम जानते हो।”

“मैं जानता हूँ ? नहीं तो। मैं तो कुछ भी नहीं जानता। क्या तुम्हारी तबीयत खराब है या कहीं चोट लग गई है ?”

वह इस बार मुस्कराई। पिछले कई वर्षों में मैंने उसको किसी असाधारण अवसर पर ही मुस्कराते देखा था। नहीं तो वह सदा खिलखिलाती रहती थी। उसने मुस्कराकर कहा, “क्यों, क्या तुमने नारायणन से यह नहीं कहा कि मैं तुमसे इस तरह बातें करने लगी हूँ जैसे कि तुम मेरे प्रेमी हो...”

दर्पण सामने होता तो निश्चय ही मैं अपने चेहरे पर राख पुती हुई पाता। रंगे हाथों पकड़े जाने पर किसीकी जो दशा होती है, वही मेरी







## ७४ मेरी प्रिय कहानियां

है, ठीक हो जाएगी। अमनी चोट तो मन की है। उसपर कीन-सा मरहम लग सकता है, अनवत्ता यह बात विचारणीय हो सकती है।”

पर मैं उसका भाषण सुनने के लिए रुका नहीं। जैसा बंटा था वैसा ही पैरों में चप्पल डालकर उठ आया। उसने भी फिर नहीं रोका। उसी स्थान पर खड़ी हंसती-हंसती मुझे जाने देखती रही और मैं न जाने कब तक चलता रहा। न जाने उससे कितनी दूर निकल आया। वह सामने राजघाट ही तो था। पर उसके द्वार बन्द हो चुके थे। शान्ति-वन के लॉन में ही जाकर मैंने सांस ली। यन्त्रवत् घास पर लेट गया। अब जान सका कि सारा शरीर पसीने से तर है। भूल गया धाव, भूल गया दबा, बस मेरे तन-मन को राजम्मा की मुक्त हंसी ने जकड़ लिया। उसीमें आकण्ठ डूबता चला गया, वैसे ही जैसे योगी ब्रह्मानन्द सरोवर में डूबता जाता है। जो डूबता है वही तो तिरता है। ‘अनबूड़े बूड़े तरे जो बूड़े तेहि रंग।’ लेकिन सचमुच क्या मैं डूब गया था? मैं तो उस हंसी से भागकर आया था। वह हंसी जो निरन्तर मेरे पीछे लगी हुई थी। यह सारा वातावरण उसीकी अनुगूंज से तो भरा हुआ है। मेरे अन्तरमन को यह गूंज कैसे सहला रही है। अपने से ही पूछता हूं, ‘यह कौन है?’

यह राजम्मा है।

न-न यह राजम्मा नहीं है। यह एक स्त्री है। वैसे ही नारायणन भी सचमुच नारायणन नहीं है। वह वही है जो सारे पुरुष हैं। वह राजम्मा का पति भी ऐसे ही है जैसे हर स्त्री का एक पति होता है। मुझे बहुत अच्छी तरह याद है कि विवाह के तीसरे दिन उसने अपने कुछ मित्रों को प्रीति-भोज पर आमन्त्रित किया था क्योंकि फिर वह हनीमून पर जाने वाला था। उस दिन जैसे ही मैंने घर में प्रवेश किया तो हठात् चौंक आया। एक मुक्त हंसी की मादक धारा सारे वातावरण को आवेष्टित किए हुए थी। मेरे तन-मन में जैसे बिभोर कर देने वाली हिलोरें उठने लगीं। बरबस ठिठक गया और वह मुक्त धारा बहती रही। कई क्षण वाद मित्र की दृष्टि मुझ-पर पड़ी तो वह चीखकर बोला, “अरे राजगोपाल, वहां क्या बुत की तरह



घटे हो ! घर में घुमने के लिए क्या तुम्हें अब छाता लेनी होगी ?”

यन्त्रवत् उत्तर दिया, “लेनी तो होगी ही ! गृहस्वामिनी जो भा गई है।”

प्रागे बढ़कर पाना हूँ कि सामने नववधू के वेश में यह राजम्मा ही तो है। पर यह कैसे वधू है, न शूगार, न मुख पर लज्जा की लाली, न आँखों में स्मित हास्य। बस एक स्वस्थ-सुन्दर युवती जिस सहज भाव से कार्य में मग्न है उभी सहज भाव से हमें जा रही है। परिवेष होने पर बोली, “देवर जी, आपकी प्रमिद्धि आपसे पहले यहाँ पहुँच गई है और मैं कहूँगी उनमें मेरा परिचय भी गहरा चुका है।”

मैंने उत्पुट्य होकर कहा, “अब, तब तो मैं भीमाग्रशाली ॥”

“अच्छा जी, आप भी इन भाषा का प्रयोग करेंगे ? कैसे मित्र है। शायद आप भी वंशजशास्त्र पढ़ते हैं। यूँ तो आपके मित्र भी कम दार्शनिक नहीं हैं। उन्हें इनका भी पता नहीं रहता कि मेरा हाथ है या उनका अपना।”

कहकर वह मुक्त भाव में हसी। मैंने उत्तर दिया, “अब तुम और वह क्या दो हैं। सो तुम्हारा हाथ इनका हाथ है और इनका हाथ तुम्हारा हाथ है।”

“जी हाँ, इनका धर्म मेरा धर्म है और मेरा धर्म इनका धर्म है। यानी पुण्य और नारी दोनों का धर्म एक ही है।”

कहकर वह क्षरान्त से हसी। एक क्षण तो हम अचूक-से देखते रहे। फिर समझकर इतने जोर से हमें कि पड़ीमी भी चौक पड़े होगे। भावेन कुछ कम हुआ तो मैंने नारायणन से कहा, “तुम्हें यात्रा करने का बड़ा मौक है। अब तुम्हें अकेले और नहीं होना पड़ेगा। हमारी भाभी के साथ तुम्हारे युग क्षणों में भीमित हो जाएंगे।”

राजम्मा बोली, “मैं इनके साथ कहीं भी जा सकती हूँ लेकिन यह मेरे साथ हर कहीं नहीं जा सकते।”

मैंने अचकचाकर पूछा, “क्या ऐसी भी कोई जगह है जहाँ केवल आप



७६ मेरी प्रिय कहानियां

ही जा सकती हैं।”

“जी हां, जरा बताएं तो कौन-सी है। आपकी बुद्धि की परीक्षा हो जाए।”

कई क्षण हम लोग चुप रहे। फिर मैंने कहा, “आज तो आपका ही दिन है। आप ही बताएं वह कौन-सी जगह है।”

वह ताली पीटकर बड़े जोर से हंसी। बोली, “हजरत, वह मँटरनिटी हास्पिटल है।”

एक बार फिर वहाँ का आकाश उस मादक हमी से दोलायमान हो उठा। घर लौटकर मैंने अनुभव किया कि राजम्मा इतनी मुक्त और सुखर है कि वह धू नहीं हो सकती, सखी होना ही उसकी नियति है। लेकिन यह नारायणन तो सखा जाति का प्राणी नहीं है। सचमुच दार्शनिक है। वह विचार में खो सकता है, रुजाल में नहीं। परन्तु कई दिन बाद मैंने अनुभव किया कि जैसे राजम्मा ने उसपर जादू कर दिया है। उसके बिना वह एक कदम भी नहीं चलता। हर एक बात के लिए उसके मुँह की ओर देखता है और वह है कि कहीं भ्रमक नहीं, तनिक भी संकोच नहीं। सहज उन्मुक्तता ही जैसे उसके जीवन का सत्य हो। उसी राजम्मा के रूप-जाल में वह डूब गया। लेकिन यौवन शाश्वत होने पर भी किसी एक को पकड़कर नहीं बैठता। उसके उफान में डूबे नारायणन की दार्शनिकता एक दिन फिर तल पर आ गई। उस दिन पाया कि वह कुछ उदास-उदास है। पूछा, “क्या बात है नारायणन ?”

“कुछ नहीं।”

“न, न, कुछ नहीं कैसे ? तुम इतने उदास तो कभी नहीं रहते।”

“उदास।” एक क्षण उसने मुझे ऐसे देखा कि मैं सिंहर उठा। वह बोला, “हां, मित्र मैं सचमुच बेचैनी अनुभव कर रहा हूँ।”

“कोई कारण ?”

“कारण तो है पर कहते डरता हूँ।”

“मुझसे ?”



“हा, वचन दोहसोगे नहीं।”

“जी नहीं, हमने का अधिकार मैं नहीं छोड़ सकता। वह तो ऐसा ही है जैसे तुम वही कि मित्रता छोड़ दो।”

नारायणन ने एक क्षण मुझे देखा, फिर कहा, “सब कुछ छूट सकता है राजगोपाल। दुनिया में सब कुछ संभव है।”

“दार्शनिक महोदय ! मैं अभी दूबा नहीं हूँ। तैर सकता हूँ। सो वचन की चिन्ता किए बिना कहिए क्या कहना है।”

वह कई क्षण मौन घंटा रहा और मैं उसे देखता रहा। धनरत्ने का बोझ तो मन को पीस देता है। आखिर वही दृष्टा जिसका मुझे डर था। वह बोला, “तुम मेरे अभिन्न मित्र हो। क्या राजम्मा से कुछ बातें कर सकोगे ?”

“राजम्मा से ! क्यों ?”

“राजगोपाल ? क्या तुम यह अनुभव नहीं करने कि राजम्मा अक्सर बहुत खोरे से हँसती है। यान-वेयाल, वकन-वेकन, वगैरह हँसती ही है। नहीं जानती कि किसके सामने क्या कहना है ? कैसे कहना है, कैसे नहीं ? आखिर हर बात की एक मर्यादा होती है।”

क्षण-भर मैं एक विराट प्रश्न मेरे अन्तर-मन पर उभर आया। मैंने धीरे से कहा, “क्या सचमुच तुम्हें बुरा लगता है ?”

“हां।”

“तब तुमने स्वयं क्यों नहीं कहा ? उसके लिए जो तुम हो सकते हो वह कोई दूसरा कैसे हो सकता है ?”

वह एक क्षण भिम्बता, फिर मेरी आंखों में अपनी आंखों टाककर बोला, “मित्र, मैं सचमुच उसे प्यार करता हूँ। मैं उसे खाना नहीं चाहता। मैं यान करुणा गो रायद बोई गलनरहमी पेदा हो जाए।”

कई क्षण बाद मैंने धीरे से कहा, “बड़ा कठिन काम करने को कहा है। सबेरा करके देखूंगा।”

“हां, हां, बस सबेरा करने की ही बात है।”



एक दिन मुविधा पाकर मैंने वह दुस्साहस कर ही डाला। क्षण के सहस्रवें भाग जितने समय में एक छाया-सी उसके गौरवर्ण मुख पर आकर चली गई। पर उसने उत्तर देने की जरा भी चेष्टा नहीं की। और उसके बाद उसने जैसा व्यवहार किया उससे तो मैं यही अनुमान कर सका कि वह मेरे संकेत को समझ नहीं सकी। कई बार ऐसा ही हुआ। तब एक दिन मैंने स्पष्ट शब्दों में कहा—“भाभी ! तुम तो एकदम मुक्त हो। तुम्हारी सहजता को कोई नहीं पहुंच सकता। कभी-कभी तुम्हारी हंसी से बड़ा डर लगता है।”

“सच ?”

“और क्या ? नारायणन की याद आती है तो कांप उठता हूं। कहाँ वह दार्शनिक, अपने में सिमटा, चारों ओर से वन्द और कहाँ तुम उन्मुक्त, सहज, विघाता भी ऐसा लगता है कि तुम दोनों का जोड़ा मिलाते समय दर्शन की किसी गुत्थी को सुलझाने में लगे हुए थे। नारायणन की सारी विनोदवृत्ति भी तुम्हें ही सौंप दी।”

वह उसी मुक्त भाव से हंस रही थी। बोली, “विघाता ने अच्छा ही किया नहीं तो बेचारी मैं दर्शन के कास पर वलिदान हो जाती।”

मैंने कहा, “कास जिन्होंने उठाया है संसार ने उनकी पूजा की है।”

वह बोली, “पूजा करने को और जीने को क्या तुम एक ही मानते हो ?”

हठात् मैंने उसकी ओर देखा। कुछ उत्तर देते न बना। थोड़ी देर बाद वही बोली, “देवर जी ! आपका संकेत नहीं समझती, यह बात नहीं है। कई बार आप कह चुके हैं और किसके आदेश पर कह रहे हैं यह भी मैं जानती हूं। लेकिन स्वभाव पानी पर खींची गई रेखा नहीं है। और न सहजता ही कोई अपराध है।”

मैं क्या उत्तर देता। एकान्त पाकर नारायणन से कहा, “देखो भाई, यह तुम दोनों का मामला है। मुझे बीच में क्यों डालते हो ? वैसे भी पति-पत्नी के बीच में आना खतरनाक है।”



नारायणन ने कोई उत्तर नहीं दिया। जैसे बात यही समाप्त हो गई। काफ़ी दिन बीत गए। एक सप्ताह यात्रा के बाद सौटकर उस दिन नारायणन मेरे पास आया तो वह बहुत उदास था। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा, “राजगोपाल, अब मुझमें नहीं सहा जाता। तुम्हें उसे सब कुछ बताना ही होगा। इस सारी यात्रा में हमने एक-दूसरे से बचने की कितनी कोशिश की है !”

मैंने कहा, “तुम दोनों ने या केवल तुमने ?”

उसने उत्तर दिया, “कुछ नहीं छिपाऊंगा। कोशिश मैंने ही की थी। यह तो तुम भी अनुभव करते होगे कि मैं कितना बिड़बिड़ा हो आया हूँ। घर वाले बार-बार मुझमें कहते हैं, ‘तुम बड़ को समझाते क्यों नहीं ? वह अल्हड़ सड़की नहीं है। कुलीन घराने की बधु है। उसके कुछ दायित्व हैं।’”

मैंने कहा, “तुमने कभी बात करने की कोशिश की ?”

“हा, एक-आध बार डरते-डरते कहा, पर उसने जैसे सुना ही न हो।”

मैंने कहा, “कुछ दिन तुम सब सोग घुप रहो। कुछ बातें अपने-आप ही ठीक हो जाती हैं।”

नारायणन के प्रति न्याय करते हुए मैं कहूँगा कि उसने कई महीने तक कुछ भी नहीं कहा। ऐसे व्यवहार किया जैसे कुछ नहीं हुआ। लेकिन जैसा राजम्मा ने कहा था कि स्वभाव पानी पर खींची गई लकीर की तरह नहीं होता, वह अपने को उनकी इच्छा के अनुसार नहीं ढाल सकी। और दोनों के बीच की साईं बढ़ती ही गई। दुखी होकर एक दिन मैंने राजम्मा को समझाने की चेष्टा की और कहा, “देखो भाभी ! नारायणन बहुत कष्ट में है।”

राजम्मा ने सहज भाव से उत्तर दिया, “उनका कष्ट मैं जानती हूँ। लेकिन क्या मुझे यह पूछने का अधिकार नहीं है कि वे मेरा इन प्रकार भविष्यवाणी क्यों करते हैं ? और जब करते हैं तब मुझमें आशा क्यों रखते हैं कि मैं उनका विश्वास करूँ ?”



मैंने अत्यन्त विनम्र होकर कहा, “भाभी, आपको क्रोध आ गया है। मैं जानता हूँ आप किन्नी सहज और सरल हैं लेकिन कभी-कभी परिस्थितियाँ फूल की सहज गंध को भी स्वीकार नहीं करतीं।”

“तब क्या फूल को आत्महत्या कर लेनी चाहिए?”

“फूल तो जड़ होता है लेकिन आप तो चेतन हैं। आपकी पीड़ा को न जानता हूँ यह बात नहीं, परन्तु फिर भी मैं यह कहूँगा कि संयम आत्महत्या नहीं है।”

“पर क्यों संयम की बात मुझसे कही जाती है, क्या मैं उच्छृंखल हूँ, क्या मैंने कोई पाप किया है? जानूँ तो सही कि मेरा अपराध क्या है?”

“मैं मानता हूँ हर स्खलन अपराध नहीं....।”

उसने तुरन्त इस शब्द को पकड़ लिया। किंचित् कठोर होकर बोली, “तुम इसे स्खलन कहोगे?”

मैं सिहर उठा, बोला, “नहीं, नहीं, यह स्खलन नहीं है। वास्तव में मैं शब्द नहीं दे सकता, भापा, कितनी अपर्याप्त है! पर भाभी, आप दोनों का एक-दूसरे के प्रति दायित्व तो है ही। आप नारायणन से प्रेम करती हैं। जिसको हम प्रेम करते हैं उसके सुख के लिए....।”

वह तीव्र हो उठी; बोली, “क्या यही बात मैं उनके लिए नहीं कह सकती? वह यदि सचमुच प्रेम करते हैं तो उन्होंने आपको बीच में क्यों डाला?”

मैं जवाब न देकर उसकी ओर देखता रहा। उस क्षण उसके मुख का तेज, उसकी आंखों की दीप्ति जैसे मुझ समूचे को आत्मसात् कर गई हो। कैसा था वह जीवन-प्राण को ग्रसने वाला तीव्र आकर्षण। यंत्रवत् मैं इतना ही कह सका “भाभी, आप सच कह सकती हैं। गलती मेरी थी। क्षमा कर देना....”

उतनी देर में उसने अपने को फिर संयत कर लिया। बोली, “नहीं, नहीं, तुम्हारी गलती नहीं है। गलती जिसकी है वह हम दोनों जानते हैं लेकिन विश्वास कीजिए मैं कुछ नहीं कर सकती। कुछ नहीं करूँगी।”



उसके बाद वह यकायक वहाँ से चली गई। मुझे लगा जैसे मेरे घरन्दर का राजगोपाल एक संजीवन-धरस पाकर बदल चुका है। मैंने नारायणन को सब कुछ बताकर कहा, “अब मैं कुछ नहीं कर सकूँगा। मुझे डर है कि...”

नारायणन हटात् बोला, “ठीक है, अब तुम कुछ नहीं करोगे।”

लेकिन इस तरह कब तक चल सकता था। उस दिन किसी उत्सव पर परिवार के बड़े-बूढ़े इकट्ठे हुए थे। राजम्मा उसी सहज मुक्त भाव से सबसे व्यवहार करती रही जैसे सदा करती थी। उन लोगों की भृकुटिया खट गई। और नारायणन भी मचमुच ही झुड़ हो उठा, उसने मुझमें कहा, “राजगोपाल ! एक बार और प्रयत्न नहीं करोगे, अन्तिम बार।”

मैं मना नहीं कर सका। मैंने राजम्मा से बातें की। ऐसे कि जैसे हम दोनों अविभक्त हों। उसने भी अपना हृदय खोलकर रख दिया। बोली, “मैं सब कुछ कर सकती हूँ, लेकिन अविश्वास को स्वीकार नहीं कर सकती।”

और वह चली गई। उसके बाद आज ही तो वह घाई है। और मैं उससे भागकर वहाँ पास पर लेटा पड़ा हूँ। मैं जो उसकी छोट के लिए मरहम लेने आया था, हड़बड़ाकर उठ बैठा। घड़ी की ओर देखा, ११ बजने वाले थे। ८ बजे मैं घर से चला था। तीन लम्बे घण्टे बीत गए। मोह साया, क्या सोचती होगी वह। यह मैंने क्या किया ? लज्जा और श्वांति से मैं गड़-गड़ गया। सामने टैंकसी जा रही थी। उसे पुकारा और घर पहुँचा। यंत्रवत् द्वार खोलकर घरन्दर घुसा। बैठक में अभी भी रोशनी थी। घुसकर देखता हूँ कि वहाँ कोई नहीं है। मेज पर रखी काफी कभी की ठण्डी होकर काली पड़ गई है। टेबे के नीचे एक कागज रखा है—झपटकर उसे उठा लाया। लिखा था—“मेरे प्रिय राजगोपाल ! आखिर तुम नारायणन के दोस्त ही तो हो। मुझमें भागना चाहते हो ? लेकिन भाग सकोगे ? तीन घण्टे राह देखकर जा रही हूँ। अब साहस हो तो यह अपने मित्र को दिखा देना। मैं तुमसे प्यार करती हूँ। यह सब है। तुम्हारी राजम्मा”

उस रात पहली बार मैंने अनुभव किया कि जैसे मैं राजम्मा के प्यार में धाकण्ड हुआ हुआ हूँ।



## ढोलक पर थाप

द्वार की घण्टी बजाने पर मिसेज चावला बाहर आई। वह अभी पिछले महीने ही 'स्टेट्स' में रहकर लौटी थीं। मुझे देखकर वह मुस्कराई और एक यान्त्रिक गरमजोशी से 'हलो' कहकर मेरा स्वागत किया। यह तरीका शायद उन्होंने 'स्टेट्स' में सीखा था। उम्र वैसे उनकी ३५ से ऊपर हो चुकी थी, लेकिन जाहिरा वह बहुत ही चुस्त और मोहक दिखाई देने का असफल प्रयत्न कर रही थीं। मुझे सोफे पर बिठाकर वह तुरन्त अन्दर जाने को मुड़ीं, फिर दरवाजे पर सहसा ठिठकीं, बोलीं "क्या पीएंगे, मुझे आपकी गांधी टोपी देखकर डर लगता है, लेकिन मैं जानती हूँ कभी-कभी तो आप पी ही लेते हैं। अच्छा, आप 'स्टेट्स' कभी गए हैं? मैंने वहाँ कई अमेरिकन्स को गांधी टोपी पहने देखा है। साड़ियों की वहाँ इतनी मांग है कि अच्छा-खासा एक्सचेन्ज पैदा किया जा सकता है। तुम्हारा क्या ख्याल है? प्रदीप से कहूँ कि वह वहाँ एक दूकान खोल ले। सच सुशील...आई एम सो सॉरी। मिस्टर वर्मा कहना चाहिए..."

मैंने बात काटकर कहा, "नहीं, नहीं, आप सुशील ही कह सकती हैं, मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

"तब तो आप स्काँच भी ले सकते हैं। मैं अभी जाती हूँ। लौटकर 'स्टेट्स' के बारे में बताऊँगी।"



उनके जाने के बाद मैंने कमरे में चारों ओर देखा। पहले भी उनके घर कई बार आ चुका हूँ, लेकिन न जाने क्यों इस बार मुझे विशेष रूप से ऐसा लगा, जैसे कमरे में भारत की गन्ध आ रही है। दीवारों के पीछे से मणिपुरी नृत्य-मुद्रा में एक युगल बस गकैत की राह देख रहा था। रामेश्वरपुर से आए गए कई गुन्दर शस्त्र और सीपियां इधर-उधर जैसे बिखरे थे। दीवार पर अमूर्त धाँसी के दो चित्र थे और कारनिश पर करपक नृत्य-मुद्रा में एक नर्तकी का बड़ा धारा-सा चित्र रखा था और उधर ललनऊ के...

सभी श्रीमती चावला लौट आईं। मुस्कराकर बोली, "आपको अच्छा लग रहा है न! ये सब चीजें मैंने अभी-अभी खरीदी हैं। इस बार 'स्टेड्स' में मैंने नये मिरे से भारत की खोज की। तुम मानोगे न कि बाहर जाकर अपने को पहचाना जा सकता है। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, जब मैंने वहाँ अपने एक अमेरिकन मित्र के घर ढोलक के गीत सुने।"

जो अब तक नहीं देख सका था, वही ढोलक मेज पर रखी थी। सहसा निमग्नता का रहस्य स्पष्ट हो गया। कहा, "सोच रहा था कि आपने किस उपलक्ष्य में भारतीय संगीत का आयोजन किया है।"

वह ऐसे मुस्कराई कि उनकी धनुषाकार बनी माँहें कुछ अधिक लम्बी हो गईं। बोली, "बिल्कुल घरेलू पार्टी है। मन किया कि ढोलक के गीत सुने जाएं, इसलिए कुछ अन्तरंग मित्रों को बुलाया है। आप तो जानते होंगे?"

मैंने आश्चर्य से कहा, "आपका मतलब है कि मैं ढोलक पर गाना जानता हूँ?"

"बपों, नहीं जानते! आपके वे कवि... तो अक्सर गाते हैं।"

"जी नहीं, मैं नहीं गाता। मैंने अपनी मा-बाबू की गाते सुना जरूर है। नाचते हुए भी देखा है, लेकिन वह जमाना तो अब बीत गया।"

मिसेज चावला एकाएक गविता-सी बोली, "यही तो गलती है आपकी! बीतना कुछ नहीं। अमेरिका के लोग ढोलक के गीत बहुत पसन्द करते हैं। सबभूत वे हैं भी बहुत प्यारे। मेरे तो पाँव थिरक उठते हैं। आप



शर्मा को तो जानते हैं। वही गुप्रसिद्ध नृत्यकार। उसने मुझे इस बार नाचने को विवश कर दिया। कैसा गुन्दर बजाता है, लेकिन वह अभी तक लौटा ही नहीं। मैंने सोचा, शायद आप जानते होंगे।”

मैंने कहा, “जी नहीं, मैं नहीं जानता। पर आप तो जानती हैं।”

वह प्रसन्नता की मुद्रा में नज़ाकत से हंसी, “हां, थोड़ा-थोड़ा जानती हूं—लेकिन ढोलक बजाना और नाचना दोनों एक साथ तो नहीं हो सकते।”

“और लोग भी तो आने वाले हैं।”

तभी द्वार पर फिर किसीने घण्टी बजाई। वह तुरन्त उठकर चली गई। और मैं इस बार बुक-शेल्फ में रखी किताबें देखने लगा। वे सभी भारतीय संगीत, नृत्य और नाट्य के सम्बन्ध में थीं। नहीं जानता कि वे पढ़ी गई थीं या नहीं। इससे पहले कि मैं उन्हें पास से देख पाता, मिसेज चावला एक जोड़ा मेहमान के साथ लौट आईं। गद्गद होकर बोलीं, “मिस्टर सुशील, इनसे मिलिए। ये हैं मिस्टर टी० एन० माथुर और ये हैं मिसेज मृदुला माथुर। दोनों फॉरेन सर्विस में हैं। अक्सर बाहर रहते हैं। तीन महीने के लिए भारत आए हैं। स्टेड्स में मैंने मिस्टर माथुर को भारतीय संस्कृति पर बोलते सुना है। ही इज सिम्पली एन इम्प्रेसिव स्पीकर...”

मिस्टर माथुर ने सहसा अपना मुंह गोल बनाकर कहा, “ओह नो... मिसेज चावला, मैं पण्डित नहीं हूं।”

मिसेज चावला ने उस और ध्यान नहीं दिया। बोलीं, “यह मृदुला माथुर संस्कृत में एम० ए० हैं। कालिदास पर अयॉरिटी मानी जाती है।”

मृदुला माथुर ने हंसकर तुरन्त प्रतिवाद किया, “आई लव भवभूति। उस दिन तो विवश होकर कालिदास पर बोलना पड़ा था।”

मिसेज चावला ने इसपर भी ध्यान नहीं दिया। कहती रहीं, “ये वी० वी० सी० पर प्रोग्राम करती रही हैं। कविता बहुत सुन्दर पढ़ती हैं। आपने सुनी होगी।”



मैंने उनका नाम कभी नहीं सुना था, लेकिन मुस्कराकर कहा, "वहाँ मेरे एक मित्र हैं। उन्होंने एक बार इनकी बड़ी सारीफ की थी।"

सहसा मृदुना ने बड़े गौर से मेरी ओर देखा। हसो, "रियसी?"

"जी हाँ।"

"इज बेरी नाइस घॉफ यू, थैंक यू।"

आश्चर्य, उन्होंने उन मित्र का नाम नहीं पूछा। वह किसी भी दृष्टि से प्रीट नहीं थी। 'मिस्टर' के कारण आयु और भी कम लगती थी। लेकिन मिस्टर माथुर अफसराना अदबो-आदाब की साकार प्रतिमा थे। झालों में गरुर या और चेहरे पर तनाय। इसके विपरीत मिसेज माथुर हर वक्त एक मुस्कान बिपकाए रहती थी। और मुझे स्वीकार करना पड़ेगा कि वह मुस्कान उन्हें मोहक बना रही थी। उनके विरामिडी जूड़े पर चांदी का फूल और घुघरू टके थे। मैंने घब देखा, गले का हार भी चांदी का था।

सहसा उन्होंने मेरी ओर से ध्यान हटाकर ढोलक की ओर देखा और मुस्कराकर बोली, "तो देयर इट इज, लेकिन मिसेज आवला, बजाएगा कौन? मेरा मन आज नाचने को करता है। राध! इण्डिया में तो मैं बोर हो जाती हूँ।"

मिनेज आवला ने उत्तर दिया, "मैं तो समझती थी आप बजाएंगी।"

उन्होंने तीव्र प्रतिरोध के अन्दाज में जवाब दिया, "नो, नो, मैं बिल्कुल बजाना नहीं जानती। बाहर की बात और है। वहाँ तो मुझे बहुत कुछ ऐसा करना पड़ता है, जो मैं नहीं चाहती, लेकिन..."

वे शायद कहना चाहती थी कि मुझे यह सब पसन्द नहीं है, लेकिन तभी मिस्टर माथुर ने उन्हें टोक दिया, "पैरी में राज की गोप-बधू के वेश में तुम कितना सुन्दर नाची थी। आज भी नाचो तो हम बजा सकते हैं।"

और किसीकी प्रतिबिम्बा की चिन्ता किए बिना वह बड़े जोर से हंस पड़े। मैंने उनका साथ देना चाहा। न जाने क्यों उनसे सहानुभूति हो भाई थी, लेकिन तभी मेरी दृष्टि मृदुला माथुर की गँहो पर गई, जो तन चुकी थी और वह इस तरह मिस्टर माथुर की ओर देख रही थी, जैसे उन्होंने



उनका घोर अपमान किया हो। एकाएक मेरा दिल धकधक करने लगा। लेकिन तभी नौकर एक ट्रे में स्काँच ले आया। मिनेज चायला ने सबके हाथों में एक-एक गिलास देकर पछा, "मिस्टर माथुर ! मुना है, इस बार आपका पोस्टिंग नोटिफिकेशन में हो रहा है।"

मिस्टर माथुर बोले, "जी हाँ, मेरी वहाँ जाने की इच्छा थी। बहुत सुन्दर देश है। मुझे वहाँ की प्रकृति बहुत प्यारी लगती है।"

मिनेज चायला सिप करती हुई बोली, "लेकिन मिस्टर माथुर, वहाँ तो बहुत गरमी है।"

मिस्टर माथुर ने कहा, "इससे क्या ! गरम भी बहुत होती है !"

तब तक मिनेज मृदुला माथुर का तनाव दूर हो चुका था। वह मेरे पास आकर बैठ गई। बोली, "क्या सचमुच आपके मित्र मेरी तारीफ करते थे ?"

मैंने कहा, "मुझे तो ऐसा ही लगता रहा। कोई और भी मृदुला माथुर हैं क्या ?"

"मैं तो नहीं जानती। अच्छा, आप तो नाटक भी लिखते हैं ?"

"लिखता तो हूँ।"

"मैंने इस बार आपका वह नाटक देखा था, 'क्वारी घाटी'। सच कहती हूँ इट वाज ए हिट। नैवेद्य और मनोजा का एक्टिंग भी कैसा रियलिस्टिक था ! किसी विदेशी नाटक का अनुवाद है ना ?"

मैंने उनकी आंखों में गहरा भाँकते हुए उत्तर दिया, "जी नहीं, वह मेरा अपना लिखा हुआ है।"

"ओह, आई सी।" उनके स्वर में क्षमा-याचना का आभास तक न था। मुस्कराकर बोली, "आप लगते तो ऐसे नहीं। कुछ लोग अपने को छिपाना जानते हैं। किसी हिन्दुस्तानी नाटक की नायिका इतनी बोल्ड हो सकती है, यह मैं सोच भी नहीं सकती। हम लोग कितने बैकवर्ड हैं। अब भला देखिए..."

सहसा उनका स्वर कुछ तलख हो उठा। धीरे से बोली, "भला डोलक



के गीत गाने की क्या जरूरत है। 'स्टेड्स' में उनकी उपयोगिता हो सकती है। डिप्लोमेसी की बात है। यहाँ तो हमको पश्चिमी नृत्य और संगीत का प्रचार करना चाहिए। इसी तरह तो हम एक-दूसरे के पास आ सकते हैं। और भारतीय नारी भी बोल्ड हो सकती हैं। क्यों, मैं कुछ गलत कह रही हूँ ?"

"जी नहीं, इसमें गलत क्या है। सहप्रस्थित्व के मन्त्रदाता तो हम ही हैं।"

"तो घाइए, कुछ 'स्टेप्स' हो जाएँ। मिसेज चावला के पास कुछ रिकार्ड्स तो होंगे ही।"

और वह मुड़ी, धोली, "मिसेज चावला ! आपके पास 'डॉस' के लिए कुछ रिकार्ड्स हैं ?"

एकाएक मिस्टर माथुर ने न जाने क्या सोचकर कहा, "इनके पास आजकल मुकेश के रिकार्ड्स हैं।"

मृदुला माथुर कुछ तीव्र हो उठी, "ओह, आई हेट मुकेश। हि इज सिम्पली अनवेमरेबल। वह तो..."

मिसेज माथुर बावय पूरा कर पातीं कि फिर घण्टी बजी। इस बार मिस्टर और मिसेज धापर और मिस्टर गुप्ता आए थे। मिसेज धापर मुझे बहुत ही शान्त और घरेलू प्रकृति की महिला जान पड़ीं। उनके पति भी उतनी ऊँची सौसाइटी के व्यक्ति नहीं थे, लेकिन लम्बे कद के धीन बाफ से दुस्त मिस्टर गुप्ता उन अनुर व्यक्तियों में से हैं, जो कहीं भी और कभी भी हारना नहीं जानते। धाते ही बड़ी भारतीयता से ऊँचे स्वर में बोले, "हलो एवरी वडी !"

वे प्रत्येक व्यक्ति के सामने झुके। उन्होंने भी अपने लहजे में 'हलो' का उत्तर दिया। वह ढोलक के सामने भी झुके। वहाँ से उन्हें जवाब की माशा नहीं थी। लेकिन धवानक किसीने उसर जोर से धाप दी और कमरा उसकी गूँज से भर उठा। मिसेज मृदुला माथुर उसके पाम सही मुस्करा रही थी। मिस्टर गुप्ता तुरन्त उनके पास गए और बड़े जोर से



## ८८ मेरी प्रिय कहानियां

‘शेक हैण्ट’ करते हुए बोले, “घागके लिए ही आया हूं। मालूम है कल सवेरे के प्लेन से इटली जा रहा हूं।”

मिसेज मृदुला माथुर के चेहरे पर चिपकी मुस्कान मादक हो आई, बोली, “शोर में तुम्हें बता दूं। हम भी एक हफ्ते बाद उसी रास्ते स्टॉकहोम जा रहे हैं। मिस्टर माथुर गोल्फ के बहुत शौकीन हैं। सारी राजनीति गोल्फ के मैदान में ही तो निर्णीत होती है।”

मिस्टर गुप्ता ने उत्तर दिया, “घन्यवाद। आप आइए, आपको सर-माधे पर लूंगा।”

अन्तिम शब्द उसने बहुत धीमे से कहे थे। निकट होने पर भी पूरी तरह नहीं सुन सका। मुद्रा देखकर ही उसका अर्थ समझ में आया। तब मेरा ध्यान मिस्टर माथुर की ओर चला गया। वह कमरे में अब भी एक अजनबी की तरह बैठे हुए थे। उनका गहुर उसी तरह उनके चेहरे पर चस्पा था और वह बराबर छत की ओर देख रहे थे। मैंने उनके पास जाकर कहा, “आप शायद बोर हो रहे हैं।”

मिस्टर माथुर ने अपनी कुहनियां सोफे की बांहों में गड़ाते हुए मेरी ओर उसी अफसराना अन्दाज से देखा, बोले, “थैंक यू।”

उसके बाद उन्होंने कुछ नहीं कहा। मैंने मिसेज माथुर की ओर देखा, लेकिन वे गुप्ता के साथ लांज में जा चुकी थीं और मिसेज चावला मिसेज थापर से पूछ रही थीं, “आप तो ढोलक बजाना जानती ही होंगी।

मिसेज थापर ने क्षमा-याचना के स्वर में कहा, “जी, बचपन में कभी बजाई थी, अब २० वर्ष से छुई तक नहीं।”

“कोशिश कर देखिए।”

“जी नहीं! गुम्मे कुछ नहीं आता। वक्त ही नहीं मिलता। थापर साहब कई बार कह चुके कि पियानो बजाना सीख लो, फॉरेन सर्विस में बहुत काम आएगा।”

मिसेज चावला ने कहा, “अच्छा! आप शराब भी बिल्कुल नहीं पीती?”



मिसेज थापर फिर लिनियानी हंसी हंसी, "ओ नहीं, मैं वो ही नहीं बननी।"

तब तब मिसेज मधुमा माधुर को साँझ में छोड़कर मिस्टर गुप्ता घण्टर था दाएँ थे। धाने-धाने धोटे में सारा के पैर लिए हुए नौकर था। एक दिन रात उठोने मिस्टर थापर को दिया, दुमरा मिसेज थापर की घोर कहावा। मिसेज थापर दो कदम पीछे हटती खड़ी गई, जब तक दीवार नहीं था गई। बर्नोस मिस्टर गुप्ता बराबर उनके साथ-साथ धाने बढ़ रहे थे। उठोने थापरहृदयक निवेदन किया, "आज तो थापको पीनी हो होगी। यह सारा नहीं, पीरी है, पीरतों की मोठी सारा।"

साथ साथी बगई के पंजों में कम गई हो। इसी मुद्रा में मिसेज थापर ने कहा, "आई साहब। तब कहती हूँ, मैं वो नहीं बनूँगी।"

गुप्ता बोले, "मैं आई साहब नहीं हूँ। यह नाते-रिस्ते स्थापित करने का विचार बहुत बलवान्ता है। मैं निकें मिस्टर गुप्ता हूँ और थाप मिसेज थापर है, जो बहुत चीझ विवेक जा रही है। सारा पीना बतल्य है। और परिणती कहा करते थे, 'बताल्य हो पर्व है।' थापही आज पीनी हो होगी। अपने बति की बत्ताप-बादना के लिए पीनी होगी।"

बगई में उतरियत सदी मोप हम दुसरे को देम-देस मुस्करा रहे थे। दलानक बि मिस्टर थापर भी मुसराए और बोले, "मिस्टर गुप्ता ठीक करते हैं। थापकी पीना बहिर्। तारक बोन्क एग बानिय कम्पेनिन हिफ इव ए बाट हम करेन सविन।"

मिस्टर थापर ने कहा, "ओ हा, मैं बहो बात्र हूँ समझने-समझने हार दना।"

मिस्टर गुप्ता ब्यस से बोले, "तुम बूझ हो थापर, पति कही पत्नी को सारा दिना लकता है। सब बूझ बना देल रहे हो, देर घाउट।"

दोनों मिस्टर थापर हंसते हुए पन्थु पन्थु की तरह बाहर बने गए। हंसते-बतावता दोनों मिसेज मधुमा माधुर भी उनके पीछे-पीछे खड़ी गई। मिसेज थापर सब सोचों में मुकटने लगी थी। मिस्टर गुप्ता ने



मिसेज थापर को अपने बाह्यांग में बांध लिया था और वह उनके ऊपर इस तरह से झुक गए थे, जैसे आमन्त्रण स्वीकृत हो चुका हो। उन्होंने गिनास उनके होंठों में लगाया, उनके दोनों हाथ नीचे फंसे हुए थे। उन्होंने तेजी से गर्दन हिलाई और होंठ भींचने का प्रयत्न किया, लेकिन गुप्ता ने न जाने कैसे उनके हाथ को 'ट्रिस्ट' किया। वे तिलमिला उठीं। होंठ खुले और शराब गले से नीचे उतर गई।

मिस्टर गुप्ता गर्व से चीखे, "दैट्स दट, थ्रि चियर्स फार मिसेज थापर! अब आप दीक्षित हो गईं। मिसेज थापर जिन्दावाद!"

एकाएक सभी लोग अन्दर आ गए और हंसते हुए ताली बजाने लगे। मृदुला माथुर ने आगे बढ़कर टोनर पर जोर से थाप दी। उस कर्कश स्वर-घोष ने हम सबको कंपा दिया। तब तक मिसेज थापर अपने को संभाल चुकी थीं। आश्चर्य, उन्हें अपनी विवशता पर क्रोध नहीं आया। एक हल्का-सा रोप अवश्य था, जो उनकी आंखों को अत्यन्त आकर्षक बना रहा था। मिस्टर थापर ने मुस्कराते हुए उनकी ओर देखा। बोले, "अब तुम इन्कार नहीं कर सकोगी, डार्लिंग।"

मिस्टर गुप्ता ने कहा, "उनकी ओर क्या देख रहे हो। पिंकी तो और भी सुन्दर लगेंगी। लो मिसेज थापर, काजू खाओ। मैं तुम्हें बताता हूं। वोडका कितनी तेज शराब होती है। गला चीरकर रख देती है। पर उसको पीने का एक तरीका होता है। फर्स्ट सेक्रेटरी ने मुझे बताया था कि पैग को एकदम गले में उलट लो और फिर कुछ खाओ। वस, शरीर में जैसे जीवन की लहर दौड़ जाती है। आपको शुरू-शुरू में खाने पर पीना चाहिए। देखोगी कैसा आनन्द आता है।"

तभी बाहर से अन्तिम मेहमानों के आने की घोषणा हुई। वे मिस्टर और मिसेज खन्ना थे। मिसेज खन्ना की सुपरिचित मोहक मुस्कान से कोई नहीं बच सकता था। विशेष कर उनके जूड़े को अनदेखा करने का साहस किसीमें नहीं था। एकदम वाई ओर के कान की सीमा का अतिक्रमण करते हुए उस जूड़े में स्वर्णफूल जगमगा रहा था। बात करती-करती वह



प्रतिधन उगी घोर मुक जानी थी। उन्होंने सापरवाही से शाल कन्धे पर हावी की घोर प्रयत्नपूर्वक प्रत्येक के पास जाकर मुस्कुराती थी। मानो कहती हो, 'मुझे देगी ! मैं बिनती सुन्दर हूँ।' लेकिन मिस्टर माधुर ने उनकी घोर ध्यान नहीं दिया। धीमे बड़कर मिस्टर खन्ना का हाथ भक्त भोरने हुए कहा, "हलो मिस्टर खन्ना, कापेचुनेगन ! इनकी धानदार मर-गिरीज मैंने किमीके पास नहीं देगी। मय ईर्ष्या करने हैं। सस्ती बिनती है, ईम सीर।"

मिस्टर खन्ना ने मुह में वादर दबाए-दबाए हो एक शाम डंग में कंधे उबकाकर कहा, "जाने हो, मुझे बिनती सुनी देनी पड़ी ?"

माधुर गूँसे, 'डोण्ट टेम सी। मुझे ज्यादा नहीं दी होगी। स्टिल इट इज बेरी सीर। एक साय बाद साए हो। इडल्ट इट ?"

मिस्टर खन्ना बोले, "बह तो है, फिर भी..."

घर तक मयरा ध्यान विमल बापर की घोर से हटकर मरमिरीज पर बेठिन हो गया था। एक बार फिर उसे देगने के लिए वे सभी बाहर बने गए। सभी विमल धारना ने खन्ना के बाहर कहा, "मय भोग नहीं गए। उपर खाना मय बुरा है।"

"मरमिरीज देगने गए है।"

"मोट, सुनीन। मयमुच बह देगने योग्य है। बाय पटी प्यारी है। मानो मयक पर बैरमी हो।"

धीरे धीरे सभी दहें। सभी विमल खन्ना खन्ना बाटें घोर बमरे का बादशा नेकर उन्होंने एक शाम डंग में बाते सीबी फिर मौलकर मयगाई घोर बोली, "रेट्स में सीटकर, भाग्योय यदना मुझे कैना मयता है मिस्टर सुनीन ?"

ईने उलर दिया, "मुझे उमका बरा अनुभव हो मयता है। बाय ही बगार।"

उन्ने धन की विस्तृत सूचकर बह बोली, "मिस्टर सुनीन ! बाय बरा रेट्स के रेट्स को बाते धन भी एक ऐसी ही मरमिरीज होतो !"



इस बार मैं मुस्करा दिया। वह भी मुस्कराई। उसमें तीव्र आक्रमण की गन्ध थी। पास आकर अनुरोध-भरे स्वर में बोलीं, “एक नाटक मेरे लिए लिखो ना, सच बड़ी कामना है तुम्हारे नाटक में अभिनय करने की। मैं टी०वी० पर अनाउन्सर रह चुकी हूँ। अच्छा, आप यहाँ अकेले क्यों बैठे हैं? दोर नहीं हो रहे? मुझे तो इस वातावरण में सोलन की गन्ध आ रही है।”

और वह मुझे सींचती-सी ले चलीं। वहाँ जाकर रुका, जहाँ नौकर पैग तैयार कर रहा था। उन्होंने एक पैग बड़े अदबों-आदाब के साथ मुझे पेश किया, फिर दूसरे पैग को मेरे पैग से छुपाती हुई बोलीं, “तुम्हारी लेखनी के लिए, प्रिय।”

फिर एक साथ पी गईं। मैं भी मोहाविष्ट-सा उनका अनुकरण करता रहा। दूसरा गिलास भरकर वह मुझे लांज में ले गईं। वहाँ एकान्त था, विद्रुल जैसे मुझसे सट गई हों। गेरी आँखों में झंकती हुई बोलीं, “नाटक के बारे में चर्चा करने के लिए मेरे घर आओ ना। खन्ना तो आजकल फूड मिनिस्ट्री में हैं। अक्सर रात को देर से लौटते हैं और मैं अकेली दोर होती रहती हूँ।...”

वे और पास खिसकीं कि तभी एक कहकहा उठा। मिसेज मृदला माथुर और मिस्टर गुप्ता वहाँ न जाने कब से खड़े थे। पास आकर गुप्ता ने कहा, “दो कलाकारों के इस मधुर मिलन के लिए...”

यह कहते-कहते उन्होंने चार गिलास लेकर हर एक के हाथों में थमा दिए। चारों ने गरमजोशी से एक-दूसरे के गिलासों को छुआ—क्लिक-क्लिक, लेकिन वे हींठों तक पहुंचे कि किसीने जोर-जोर से ढोलक पर थाप देनी शुरू की।

“हेलो, एवरीबडी, खाना लग चुका है। बादल घिरे आ रहे हैं।”

मिसेज खन्ना ने एकाएक कानों में उंगली देकर कहा, “इडियट! ओह कितनी कर्कश आवाज है।”

मिसेज माथुर गुप्ता से बोलीं, “मुझे भुख नहीं है। तुम्हें लग रही है क्या?”



मिस्टर गुप्ता ने धाखिरी धुँट मरो, धीर बोले, "एक सन्धे मद को भानि में तो बहुत भूखा हूँ। कम एलाग एवरीबडी।"

कुछ देर बाद खाने के उस शोर में जिसमें स्कॉच, मरसिडीज, जूडे, गरूर धीर मुस्मान सबकी गन्ध धुलीमिली थी, मिस्टर मायुर को छोड़कर कोई यह न जान सका कि बाहर सचमुच बूढ़े पड़ने लगी हैं और दूर चतुर्थ वर्ग के कामेधारियों के क्वार्टरों में कोई ढोलक पर गा रहा है :

रिल्ली को जाना सजनवा,  
माड़ी लाना बसन्ती  
माड़ी भी लाना, जम्फर भी लाना,  
नयनों को लाना कजरवा,  
साड़ी लाना बसन्ती ।

मिस्टर मायुर सबसे हटकर सकेले खिड़की के पास खड़े थे, जैसे कहीं रो गए हों। मैने पाग धाकर कहा, "ढोलक के गीत सुन रहे हैं?"

वे सचमुचाकर बोले, "ओह नो, बाहर बूढ़े पड़ रही हैं। और मिस्टर सप्ता की मरसिडीज पर कोई बबर नहीं है। मैं उनसे करता हूँ।"...

वे सप्ता की ओर तेजी से बढ़े और मैं उस शोर में एक बार फिर सकेला गया रह गया।



## खिलौने

दीपा विभोर-सी देखती रही। वर्ष में नौ महीने जो गालियां देते और लड़ते रहते हैं, वे ही आजकल कैसे तन्मय होकर निर्माण में लगे हैं। दीवाली उनके लिए सचमुच लक्ष्मी-पूजन का दिन होती है।

बे घर-घर जाकर कागज इकट्ठे करते हैं। लुगदी तैयार करने में कैसा खटना पड़ता है, तब कहीं सांचों में जमाने लायक सामग्री तैयार होती है। उन्हींमें खिलौनों का ढांचा बनता है, केवल ढांचा। उसे तराशना, नाक-नक्श ठीक करना, फिर नाना रंगों से सजाना, पहले पिंडोल मिट्टी, फिर अंग-अंग के अलग रंग। उस दिन रेशमा कह रही थी, “बहिन जी, जितनी मेहनत पड़ती है उसका हिसाब कौन कर सकता है, बस यह बात है कि दो रोटियों का जुगाड़ हो जाता है। थी कभी कदर, अब तो तरह-तरह की मशीनें चल पड़ी हैं। बने-बनाए तैयार खिलौने बाहर आ जाते हैं, पर हाथ की मेहनत की बात और है। अंग-अंग बनाने में कितनी कारीगरी है। एक तो ऐसा जैसे रोता हो, दूसरे को देखकर दिल उछल-उछल पड़े।”

दीपा इसी कला को मुग्ध-मन देखती है। देखती रही है। उसके आस-पास प्रजापति रहते हैं, उनकी छतों पर नाना रूप-रंग के खिलौने बिखरे पड़े हैं, बड़े-बड़े बबूए हैं; मेम-साहब हैं, राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-गणेश,



शिव-पावती आदि सभी देवता हैं। नाबें हैं, तो हवाई जहाज भी हैं। घोर वे छोटे-छोटे हाथी, घोड़े, गाय, बैल, स्त्री-पुरुष भंगुली जित्तें। उन्हींके बनाने में लाखों घोर अगुलिया थक जाती हैं।

सहसा पदचाप सुनकर चौंक पड़ी। प्रोफेसर सुभाष कालेज से लौट आए थे घोर मुनमुना रहे थे अर्थात् प्रसन्न थे। वही से पुकारा, “दीपा, दीपू।”

“घाली हूँ,” कहती हुई दीपा तुरन्त ही पास नहीं आ खड़ी हुई। मार्ग में एक-दो काम कर डाले। जाल पर जो कपड़े पड़े थे उन्हें सभाला, फिर जालों में से दूध लिया।

“भई सुनतो नहीं, कहा हो?”

“मा तो रही हूँ। भाप तो बस..”

दीपा पास आ गई तो प्रोफेसर जैसे कोई रहस्य प्रकट करते हुए बोले, “भाज निश्चित हो गया।”

“क्या?”

“भव अनजान मत बनो।”

“सुनील की बात कहते हो?” दीपा सहसा उदाम हो आई।

“भव यही तो बात है। पहले सुन तो लेती। वह आने ही वाला है। साथ में मधुमिता है।”

“मधुमिता?”

“हाँ, इस बार बाद-विवाद में प्रान्त-भर में प्रथम आई है। मैं ही तो निर्णायक था। अभिनय तो इतना सुन्दर करती है कि पना नहीं लगता कि वह पौडशी है या दादी-मम्मा - सुन्दर भी है। तुमने तो देखा है।”

“दिखा है,” दीपा ने कहा, मानो गह्वर में से खोसती हो। फिर एका-एक उड्डिग्न हो उठी, “क्या भव उसे घादी करना चाहता है?”

“हा, एक-दूसरे को बचन दे चुके हैं। मैंने अपने कानों से सुना है।”

“भापने?” अविज्ञान से दीपा ने पति के मुख पर दृष्टि गड़ा दी। प्रोफेसर हँसे, “भव क्या बताऊँ, सुन ही लिया।”



“और जब स्वतंत्रता से उसने वायदा किया था तब भी तो आपने मुन लिया था।”

तब तक प्रोफेसर कपड़े बदलकर सोफे पर बैठ चुके थे। बोले, “जरा यहां बैठो।”

“मुझे चाय बनानी है।”

“पहले मुन लो। गुस्सा मन करो।”

“मैं गुस्सा करती हूं?”

“और क्या मैं करता हूं? ऊपर से न दिखाओ, पर अन्दर से तो जल रही हो। मैं कहना हूं, उमसे लाभ क्या? ... मुनो, मैं यह नहीं चाहता कि वह मुझे दकियानुमी या पुरातनपथी समझे। जिस लड़की को वह पसन्द करता है, मैं उसीका प्रस्ताव करने को तैयार हूं।”

“स्वतंत्रता के लिए भी क्या तुमने ऐसा ही नहीं किया था?”

“तब शायद मेरे समझने में भूल रह गई थी। अक्सर उसके साथ देखा था। कितनी ही बार घर भी आई थी। इस उम्र में कोई यों ही तो घूमता नहीं। तुमसे भी तो मिलाया था। उस दिन तुम कितनी नाराज़ हुई थीं, पर मैंने तो उसे पूरी छूट दे रखी है। न भी दूं तो वह लेगा। सभी लेते हैं। मैं उसे विद्रोही नहीं बनने देना चाहता। यों बेटे किसी न किसी समय विद्रोही होते ही हैं। ‘एंग्री यंगमैन’ वाला सिद्धान्त गलत नहीं है। मैंने भी तो ज़िद करके तुम्हें पसंद किया था।”

दीपा व्यंग्य से हंसी, “जी हां, पसंद किया था। किसी लड़की से मिलने का तुम्हारा पहला ही अवसर था। पहली ही बार में चित हो गए थे।”

प्रोफेसर भी हंसे और खुशामद के स्वर में बोले, “तुम थीं ही ऐसी। और अब भी तुम्हें कौन चवालिस वर्ष की बताएगा। ऐसी लगती हो...”

“अब रहने दो ठकुरमुहाती। मुझे सच बताओ, क्या यह शादी होगी?”

“मैं तो यही समझता हूं और आज मैं उससे कहने वाला भी हूं कि  
मे-वि-६



वह भव शादी कर ले । मधुमिता हर तरह से योग्य है ।”

“पर मैं उसे योग्य नहीं समझती ।”

“उस दृष्टि से तो मैं भी नहीं समझता । पर देखो दीपा, अपने एक ही सडका है । सब प्रकार से योग्य है । ऊँचे पद पर है । शादी-बिवाह हमारी रुचि से तो वह करेगा नहीं । वही करेगा जो वह चाहेगा । इस-लिए तुम उससे कुछ मन कहना । मधुमिता से प्यार से बातें करना । उसकी-उगड़ी मत रहना ।”

“मैं क्यों रहूँगी उसकी-उसकी ? पर मैं जिस बात को अच्छा नहीं समझती, नहीं समझती । किसीकी खुशामद भी मुझमें नहीं होती । तुमसे होती है तो, करो । मैं माँ हूँ ।”

मुभाप की आँखों में एक अद्भुत चमक उभरी । धीरे से कहा, “प्रब जन्म-भर माँ बने रहने का युग बीत गया दीपा ।”

दीपा महमा गिबिल हो गई । दीर्घ निःश्वास के साथ झटना ही कहा, “बाप से आती हूँ ।”

प्रोफेसर शण-भर मौन दीपा को उठते और अन्दर की ओर जाते हुए देखते रहे । सोचते रहे—‘मादमी क्यों सहज भाव से अदमान संजोता चला जाता है ? हककर मोचता क्यों नहीं ? किसी भी बात का एक ही पहलू तो नहीं होता ।’

‘क्यों नहीं मानता कि...’ सहसा द्वार पर खटका हुआ । तुरन्त पुकार-कर उन्होंने कहा, “दीपा, वे आ गए, साथ-साथ ही चाय पिएँगे ।”

दो शण बाद अन्दर से दीपा ने और नीचे से सुनील ने वहाँ प्रवेश किया । वह अकेला था । एक शण प्रोफेसर ने किसी ओर के पदचाप की राह देखी । फिर पूछा, “मधुमिता कहा है ?”

सुनील ने हठात् पिता की ओर देखकर कहा, “मधुमिता ?”

“हाँ, वह तुम्हारे साथ आने वाली थी ।”

“किसने कहा ?”

मुभाप इस प्रश्न के लिए तैयार नहीं थे । हतप्रभ-से दीपा की ओर



देतने लगे — मानो कहने लगे, 'अब तुम्हीं कुछ कहो न।' दीपा ते मोन रहकर उत्तर दिया — 'अपने-आप ही न जाने क्या ताना-बाना बुनते रहते हो। अब भुगतो। बनाओ किनने कहा है?' सहसा प्रोफेसर उधर से गरदन घुमाकर बोले, "बात यह है कि कुछ देर पहले मैंने तुम दोनों को साथ-साथ देगा था। सोना..."

सुनील ने एक बार विनृष्णा से जानूसी करने वाले अपने पिताजी को देखा। फिर मां से कहा, "मेरा सामान तैयार है?"

"हां।"

"तो मैं अभी जाऊंगा।"

वह अन्दर की ओर मुड़ा। प्रोफेसर स्नेह से बोले, "चाय भी नहीं पीओगे, बेटा?"

"मधुमिता के घर पी आया। मुझे अभी जाना है। कार से जाऊंगा।"

प्रोफेसर मुस्कराए। बोले, "मधुमिता भी साथ जा रही है?"

सुनील का अन्तर जैसे उबल उठेगा। लेकिन ऊपर से उसी तरह शान्त, पर प्लुत स्वर में उसने कहा, "जी....."

"देखो सुनील," प्रोफेसर ने उस ओर ध्यान दिए बिना प्रफुल्लित स्वर में कहा, "यह नहीं सोचा था कि मुझे ही सब कहना होगा। तुम सयाने हो। सब प्रकार से योग्य हो। अब तुम्हारी मां कहती है और मां ही क्या, मेरी भी इच्छा है....."

लेकिन वे वाक्य पूरा कर पाते कि उन्होंने पाया सुनील कमरे में नहीं है। दीपा उन्हें देखकर मुस्करा रही है। कैसी है यह दीपा, आजकल जैसी है ही नहीं। जीवन से असम्पृक्त, उदासीन, निस्संग — इसे कुछ अच्छा ही नहीं लगता। कछुए की तरह खोल में मुंह छिपाए रखती है। तभी सुनील ने बाहर आते हुए कहा, "अच्छा डैडी, मैं जा रहा हूं। पन्द्रह-बीस दिन लग सकते हैं। ममी, नमस्ते।"

"नमस्ते," उत्तर दिया प्रोफेसर ने। फिर कहा, "दीपा, चाय ले आओ। मैं जानता था..."



दीपा ने कहा, "चाय रखी है।"

"भोहो, बैठो।"

आधा प्याला समाप्त करने के बाद कुछ कहने की दृष्टि उठाई तो देखा दीपा वहां नहीं है। खीझ उठे, "कोई भी मेरी बात नहीं सुनता। समझते हैं जैसे मैं हू ही नहीं। और सच भी है, मैं हू ही कहा?"

सोचते-सोचते उठे और बाहर जहां दीपा खड़ी खिलौने बनते देख रही थी. वही जाकर बोले, "चाय नहीं पी?"

"पी तो रही हू," कहते-कहते दीपा ने हाथ का प्याला उनकी ओर बढ़ा दिया। फिर कहा, "कितनी मेहनत करते हैं ये लोग। इन दिनों गाली देना और शराब पीना तक भूल जाते हैं।"

"हा दीपा, निर्माण का आनन्द ऐसा ही सर्वजयी होता है।"

"निर्माण का आनन्द।" दीपा कुमकुसाई और घन्दर की ओर मुड़ती हुई बोली, "आठ दिन बाद सब कुछ बेचकर ये फिर शराब पीएंगे और मारपीट करेंगे।"

प्रोफेसर स्वभाव के अनुसार लम्बा भाषण देने के मूड में आने ही वाले थे कि नीचे से रेशमा ने पुकार लिया, "बहिन जी हैं क्या?"

और वह कहती-कहती हाथ पर बड़ी टोकरी समाने वह ऊपर आ गई। बोली, "लो बहिन जी, दो-चार खिलौने से आई हूं। तुम्हें अच्छे लगते हैं न।"

प्रोफेसर और दीपा दोनों एक साथ टोकरी पर झुके, "घरे, इतने खिलौने। कितने के होंगे?"

"मए हए, जैसे मैं बेचने आई हू। दीवाली साल में एक बार ही आती है, प्रोफेसर साहब।"

"और एक बार ही तुम खिलौने बनाती हो।"

रेशमा फिर हसी, "तभी तो कहती हू, ये दीवाली की मेंट है।"

दीपा ने कहा, "हाथ, ये छोटे खिलौने कितने सुन्दर हैं।"

प्रोफेसर बोले, "सच, जैसे अभी बोल उठेंगे।"



देखने लगे — मानो कहते हों, 'अब तुम्हीं कुछ कहो न।' दीपा ते मीन रहकर उत्तर दिया—'अपने-आप ही न जाने क्या ताना-बाना बुनते रहते हो। अब भुगतो। बताओ किसने कहा है?' सहसा प्रोफेसर उचर से गरदन घुमाकर बोले, "बात यह है कि कुछ देर पहले मैंने तुम दोनों को साथ-साथ देखा था। सोचा..."

सुनील ने एक बार विनृष्णा से जामूसी करने वाले अपने पिताजी को देखा। फिर मां से कहा, "मेरा सामान तैयार है?"

"हां।"

"तो मैं अभी जाऊंगा।"

वह अन्दर की ओर मुड़ा। प्रोफेसर स्नेह से बोले, "चाय भी नहीं पीओगे, बेटा?"

"मधुमिता के घर पी आया। मुझे अभी जाना है। कार से जाऊंगा।"

प्रोफेसर मुस्कराए। बोले, "मधुमिता भी साथ जा रही है?"

सुनील का अन्तर जैसे उबल उठेगा। लेकिन ऊपर से उसी तरह शान्त, पर प्लुत स्वर में उसने कहा, "जी....."

"देखो सुनील," प्रोफेसर ने उस ओर ध्यान दिए बिना प्रफुल्लित स्वर में कहा, "यह नहीं सोचा था कि मुझे ही सब कहना होगा। तुम सयाने हो। सब प्रकार से योग्य हो। अब तुम्हारी मां कहती है और मां ही क्या, मेरी भी इच्छा है....."

लेकिन वे वाक्य पूरा कर पाते कि उन्होंने पाया सुनील कमरे में नहीं है। दीपा उन्हें देखकर मुस्करा रही है। कैसी है यह दीपा, आजकल जैसी है ही नहीं। जीवन से असम्पृक्त, उदासीन, निस्संग—इसे कुछ अच्छा ही नहीं लगता। कछुए की तरह खोल में मुंह छिपाए रखती है। तभी सुनील ने बाहर आते हुए कहा, "अच्छा डेडो, मैं जा रहा हूँ। पन्द्रह-बीस दिन लग सकते हैं। ममी, नमस्ते।"

"नमस्ते," उत्तर दिया प्रोफेसर ने। फिर कहा, "दीपा, चाय ले आओ। मैं जानता था..."



दीपा ने कहा, “चाय रती है।”

“ओहो, बैठो।”

घाघा प्याला समाप्त करने के बाद कुछ कहने को दृष्टि उठाई तो देखा दीपा वहां नहीं है। खीझ उठे, “कोई भी मेरी बात नहीं सुनता। समझते हैं जैसे मैं हू ही नहीं। और सच भी है, मैं हू ही कहा?”

सोचते-सोचते उठे और बाहर जहां दीपा खड़ी खिलौने बनते देख रही थी, वही जाकर बोले, “चाय नहीं पी?”

“पी तो रही हूं,” कहते-कहते दीपा ने हाथ का प्याला उनकी ओर बढ़ा दिया। फिर कहा, “कितनी मेहनत करते हैं ये लोग। इन दिनों गाली देना और शराब पीना तक भूल जाते हैं।”

“हा दीपा, निर्माण का आनन्द ऐसा ही सर्वजयी होता है।”

“निर्माण का आनन्द।” दीपा फुमफुसाई और अन्दर की ओर मुड़ती हुई बोली, “दो दिन बाद सब कुछ बेचकर ये फिर शराब पीएंगे और मारपीट करेंगे।”

प्रोफेसर स्वभाव के अनुसार लम्बा भाषण देने के भूझ में आने ही वाले थे कि नीचे से रेगमा ने पुकार लिया, “बहिन जी हैं क्या?”

और यह कहती-कहती हाथ पर बड़ी टोकरी सभाले वह ऊपर आ गई। बोली, “तो बहिन जी, दो-चार खिलौने तो आई हू। तुम्हें अच्छे लगते हैं न।”

प्रोफेसर और दीपा दोनों एक साथ टोकरी पर झुके, “अरे, इतने खिलौने। कितने के होंगे?”

“अए हए, जैसे मैं बेचने आई हू। दीवाली माल में एक बार ही आती है, प्रोफेसर साहब।”

“और एक बार ही तुम खिलौने बनाती हो।”

रेगमा फिर हसी, “तभी तो कहती हू, ये दीवाली की भेंट हैं।”

दीपा ने कहा, “हाय, ये छोटे खिलौने कितने सुन्दर हैं।”

प्रोफेसर बोले, “सच, जैसे अभी बोल उठे।”



रेशमा फिर हंसी, "प्रोफेसर माहव, ये बोल पड़े तो मुसीबत आ जाएगी। बिकने से इंकार कर देंगे और हमें भूखों मरना पड़ेगा।"

हठात् प्रोफेसर ने दीपा को देखा, फिर रेशमा को देखा। पाया कि वह नीचे उतरती जा रही है और दीपा एकटक उन खिलोनों को देख रही है। और उसकी आंखों से आंशू भर रहे हैं। प्रोफेसर ने प्यार से कहा, "आओ, अन्दर चले।"

फिर चुपचाप दीपा के पीछे-पीछे टोकरी लेकर अन्दर आ गए। उसे रखते हुए बोले, "तुमसे मैंने कितनी बार कहा है कि तुम सोचना छोड़ दो। उसके जो जी में आए करे, हमें क्या? हम-तुम दोनों ठीक हैं। बस यही चाहिए। हमें उससे लेना भी क्या है? अब तो जमाना किसीपर निर्भर करने का रहा नहीं। मुसीबत पड़ने पर तुम स्वयं भी तो कमा सकती हो।"

दीपा ने धीरे से, पर अधिकार-भरे धंघे स्वर में कहा, "अब चुप भी करोगे? मैं उसकी क्यों चिन्ता करूंगी? चिन्ता उसे करनी चाहिए।"

प्रोफेसर खूब हंसे, "देखा तुमने अनपढ़ रेशमा अनजाने ही कितनी बड़ी बात कह गई। पर तुम उसे अब भी खिलौना ही समझती हो।"

दीपा ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया, "मैं तो कुछ भी नहीं समझती। जहां चाहे, जिससे चाहे, शादी करे। पर इतना अधिकार तो मुझे है कि मैं उसे अपने घर में आने दूं या न आने दूं।"

प्रोफेसर फिर हंसे, पर बोले कुछ नहीं। बैठक में जाकर पढ़ने लगे। फिर अंबेरा होने पर बाहर चले गए। जाते-जाते कहा, "दीपा, अभी एक घंटे में लौट आऊंगा। तुम खाना खा लेना। मेरी राह न देखना।"

दीपा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। प्रतिदिन वह इसी तरह कहकर जाते हैं। प्रतिदिन वह देर तक खाना लिए बैठी रहती है। प्रतिदिन प्रोफेसर आकर कहते हैं, "अरे भाई, तुम सुनतीं क्यों नहीं? कहता हूं, मेरी राह बैठी रहा करो।"

मुस्कराकर धीरे से कहते हैं, "तुम्हें भी साथ खाना अच्छा लगता



हे, मुझे भी । दोनों मजबूर हैं ।”

फिर दोनों हग पड़ते हैं । खा-पीकर कुछ देर पड़ते हैं या बातें करते हैं । फिर सेठ जाते हैं । श्वसुर बातें करने का दौर एकतरफा रहता है । प्रोफेसर मानो क्लास-रूम में भाषण देते हैं और दीपा सुनते-सुनते सो जाती है । उस दिन भी सब काम उसी तरह हुए । पर दीपा भी जैसे उदास-उदास, सोई-सोई । लेटे-लेटे सहसा प्रोफेसर बोले, “सो रही हो ?”

“नहीं तो ।”

“सुनो, जब मैं रुक गया था तो मैंने कहा अपने एक मित्र से पूछा था कि क्या वे शादी-बिवाह में मा-बाप की राय बिलकुल नहीं लेते ?”

“तो ?”

“तो मित्र ने कहा था कि कोई बेवकूफ ही नहीं लेता । उन्हें पूरी स्वतन्त्रता है, पर अनुभव तो मा-बाप का अधिक होता है । उस अनुभव से लाभ उठाना ही चाहिए ।”

दीपा ने इस बार तुरन्त उत्तर दिया, “यह मुझसे क्या कहते हो । तुम्हारे सोचने की बात है । तुम हर बात में उसीकी कहते हो ।”

प्रोफेसर ने करवट बदलकर दीपा का हाथ अपने हाथ में ले लिया । धीरे से कहा, “उसकी न कहू तो क्या उसे अपना दुश्मन बना लूँ ? मैं तो उसे बताना चाहता हूँ कि मैं उतना ही प्रगतिशील हूँ जितना वह । और दीपा, अपने समय में हर व्यक्ति प्रगतिशील होता है । नानाजी ने १८७० में जब दिन के समय नानी का मुह देखने का दुस्साहस किया था तब क्या उन्होंने कम कान्ति की थी । पिता ने नगा करके वेह से धाध दिया था और दाहवूत की कमची से खाल उतार ली थी ...”

लेकिन, उन्होंने पामा कि सुनने वाले की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई । बात भी थोभित हो उठी । पुकारा, “दीपा ।”

लेकिन कोई उत्तर नहीं मिला । बोले, “सो गई है । मच्छा ।”

फिर धीरे से दीपा की झीली-बोझिल दाह को उसकी छाती पर रख दिया और भासं पीचकर सोने का प्रयत्न करने लगे, पर नींद नहीं



## १०० मेरी प्रिय कहानियां

रेशमा फिर हंसी, “प्रोफेसर माह्व,  
जाएगी। विकने से डंकार कर दंगे और हमें :

हठात् प्रोफेसर ने दीपा को देखा, फिर  
वह नीचे उतरती जा रही है और दीपा एकट  
है। और उसकी आंखों से आंनू भर रहे हैं।  
“आग्रो, अन्दर चले।”

फिर चुपचाप दीपा के पीछे-पीछे टोकरी  
रखते हुए बोले, “तुमसे मैंने कितनी बार का  
दो। उसके जो जी में आए करे, हमें क्या ?  
यही चाहिए। हमें उससे लेना भी क्या है ?  
निर्भर करने का रहा नहीं। मुसीबत पड़ने प  
सकती हो।”

दीपा ने धीरे से, पर अधिकार-भरे एवं स्व  
करोगे ? मैं उसकी क्यों चिन्ता करूंगी ? चिन्ता

प्रोफेसर खूब हंसे, “देखा तुमने अनपढ़ रेश  
बड़ी बात कह गई। पर तुम उसे अब भी खिलौना

दीपा ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया, “मैं तो कु  
जहां चाहे, जिससे चाहे, शादी करे। पर इतना अ  
मैं उसे अपने घर में आने दूं या न आने दूं।”

प्रोफेसर फिर हंसे, पर बोले कुछ नहीं। बैठक  
फिर अंधेरा होने पर बाहर चले गए। जाते-जाते क  
घंटे में लौट आऊंगा। तुम खाना खा लेना। मेरी रां

दीपा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। प्रतिदिन वह इ  
हैं। प्रतिदिन वह देर तक खाना लिए बैठी रहती है  
आकर कहते हैं, “अरे भाई, तुम सुनतीं क्यों नहीं ?  
देखती न बैठी रहा करो।”

फिर मुस्कराकर धीरे से कहते हैं, “तुम्हें भी साथ



है। मंगल गीत गाए जा रहे हैं और वह हार पहने बहू की ठोड़ी ऊपर उठाकर देखती है—आह क्या रूप है ! जैसे घरती में शीने उठने लगेंगे ! वह गद्गद होकर अपना हार उसके गले में डाल देती है और... और...

दीपा ने जोर से हिचकी ली। क्षण-भर बाद फिर कहा, "बहू ने उस हार को देखा। उसका चेहरा घृणा से विरूप हो आया। उसे उतारकर उपेक्षा से उसने सुनील को थमा दिया, कहा, 'कितना पुराना डिजाइन है।'

"जैसे सागर की उमड़ती सहर को किसीने रोक दिया हो। किसी तरह मैं उसे झन्डर से जाती हूँ। वह चारों ओर देखती है। सहसा उसकी दृष्टि रेशमा के खिलौनों पर पड़ती है और वह जैसे चीख उठती है, 'छिः, ये मिट्टी के कलाह्वीन खिलौने। लोग अभी भी पिछली सदी में रहते हैं।'

"और कहती ही नहीं, उन्हें उठाकर एक कोने में फेंक देती है। मैं यह सब नहीं सह सकती। चीख उठती हूँ... सभी भाख खुल जाती है, देगती हूँ, कहीं कुछ नहीं है। सब सपना है। पर मैं जानती हूँ कि यही सच है। सपने में आने वाली बातें सच होती हैं।"

"होती हैं तो इसमें दुखी होने की क्या बात है? सपना ठीक ही तो है। तुम समझती क्यों नहीं? कुछ दकियानूसी लोगों को छोड़कर अब कौन सोने के भारी-भारी हार पहनता है? अब तो तरह-तरह के कलापूर्ण परवर आते हैं और रेशमा के खिलौनों में भी कहीं कला है? वह तो दूर से देखने के हैं। पास से देखो तो न रंगों का मेल, न अंगों का सौन्दर्य।"

दीपा ने कहा, "तुम तो यही कहोगे। पास में देखने पर तो सभी बद-रंग दिखाई देते हैं।"

प्रोफेसर ने जैसे मुनाही नहीं। एक क्षण निस्संग भाव से कहा, "मुझे ऐसा लगता है कि सुनील मधुमिता से विवाह निश्चित करके ही आया। तुम उससे कुछ भी मत कहना। समझी। मन में यही बात रचा लो, सब न सपने आएंगे और न रोना। दुख-सुख तो मानने के हैं। तुम्हें कैसे समझाऊँ कि तुम्हारा दुख-सुख मेरे साथ बधा है। बाकी रही दुनिया की बात, वह जितना हमें मानेगी उतना ही हम..."



दीपा ने गहककर कहा, "मुनील दुनिया में है?"

"साजजन अपने आपके चलाता सभी दुनिया में है।"

"तो फिर तुम क्यों उसके मन की करने को आतुर रहते हो?"

"क्योंकि मैं जानना हूँ कि यह ठीक है। यह दूसरी बात है कि मुझे भी उसकी बातें अच्छी नहीं लगती। पर है वही ठीक। हमारी हड्डियाँ पक गई हैं। नये सन को भेल नहीं पाती।"

"सन भी नया-पुराना होता है?"

इस दयापना पर प्रोफेसर घंटों बोल सकते हैं। उस रात भी न जाने कब तक बोलते रहे। दीपा गो गई, ये भी तो गए, पर नये सन की कड़वी-मीठी धनियाँ उनकी गृहस्थी में गूँजती रहीं। एक दिन घर लौटे तो बड़े उद्विग्न थे। बिना कपड़े उतारे दीपा के पास आए और गम्भीर स्वर में बोले, "मुनील कब आ रहा है?"

"अब मुझे पूछते हो? वह क्या आने-जाने की सूचना देता है?"

"दिन तो बीस-इक्कीस हो गए।"

"हो तो गए। पर, बात क्या है?"

"प्राज मधुमिता को देखा था।"

"मधुमिता को?"

"हां।"

"तो?"

"बस यही तो तुम्हारी बुद्धि है। दोनों साथ ही तो गए थे। मधुमिता उसे छोड़कर कैसे आ गई?"

"मुझे क्या पता। उसीसे पूछा होता।"

"मैं उससे पूछता?"

"क्यों, उसे जब वहाँ बनाकर घर ला रहे हो तो पूछने में क्या है?"

"तुम व्यंग्य-वाण बरसा रही हो और मैं परेशान हूँ। आखिर वह..."

"वह..."



“यह उमको भी नहीं जानती । धात्रि सुनीम कितने शादी करेगा ।”

दीपा हँस पड़ी, “मुझसे कहते हो कि मेरी रग-रग में यही जान रच गई है और आप एक समझे को भी उसके बारे में बिना सोचे नहीं रह पाते ।”

“तुम तो बस...चाय है ?”

“है, अभी साती है ।”

चाय पर दोनों फिर कई क्षण मौन बैठे रहे । कोई प्रसंग निकालकर दीपा ने कहा, “आप उसकी बिना क्यों करते हैं ? नहीं मानना तो करे जो उनके मन में हो ।”

प्रोफेसर एकदम तड़प उठे, “यह तुम कहती हो ।”

दीपा कुछ उत्तर देती कि डाकिया डाक दे गया । एक तिफाक पर हुताक्षर पहचानकर प्रोफेसर में तुरन्त उसे पाठ जाना और पत्र निजाम-कर पढ़ने लगे । दो क्षण बीतने में बीतते वह अंगे पागल हो उठे हैं । बिट्टी की बुरी तरह मुट्ठी में भींच लिया । लपके पाठ करने लगे । त्रड-कम्पिन स्वर में चीगकर कहा, “गुस्ताग, बदमशोज, वह अपने को समझता क्या है ? मैं हरगिज-हरगिज यह नहीं होने दूँगा । मैं...मैं -”

मुह में भाग निकलने लगे । दीपा पबराबर दोरी हुई आई; बोली, “क्या हुआ ? बिराही बिट्टी है ?”

पर वह मुट्ठी मोलने में मगन न हो गयी । किसी तरह उसकी दोनों बांहों में भरना चाहा, पर वे तो रोद रग हो उठे थे । जोर में भटका दिया । कुर्सी के साम झारी । भागने जो दो गुश्तर तिलोने रंगे थे, उन्हें ज़ोर से खमीन पर फेंक दिया, “मैं...मैं... मेरा जाना घरमान ! दगनी देतरदनी ! मैंने...”

“कुछ बताओगे भी । बिगने बिना घरमान ? बिगकी बिट्टी है ?”

“होनी बिगकी ? उगी नामादक-गुस्ताग को है ।”

“सुनीम को ?”



भी उर

पक गः

“

ए

कव तव

मीठी धः

उद्विग्नः

“सुनीलः

“अः

“दिः

“हो तः

“ग्राज

“मधुमि

“हां।”

“तो ?”

“वस यही तः

उसे छोड़कर कैसे :

“म



पान । लो पट लो ।”

हीरा ने पड़ा—

“ मेरे प्यारे घेरे !

“ आशा है तुम सकुशल पहुँच गए हो । यही मुरी हुई कि आगिर तुम्हें  
योगा मिन गया । दादी का कीन मा दिन निश्चय हुआ, यह लोटती डार  
मे नितो । तुम्हारी मा और मे दोनों तुम्हें और वह स्वेननामा को बटून-  
बटून आशीर्वाद भेजते हैं । दोनों खुश रहो । मुरल्ल धिप्र भेजना । मार से  
उत्तर देना । तुम्हारी मा यही उतावली मे राह देना रही है । तुम दोनों को  
हम दोनों का देर-देर प्यार ।

तुम्हारा प्यारा  
मुभाप ”



“हां, मैं उससे कोई संबंध नहीं रखूंगा। उसने समझा क्या है? इतनी नटकियों को भांसा दिया। यह धरीफों के काम है?”

“कुछ बताओगे भी, हुआ क्या?”

“होता क्या? तुम्हारे साहबजादे ने लिया है कि छह महीने की छुट्टी लेकर वह रुज जा रहा है। वहां वह स्वेनलाना नाम की किसी लड़की से शादी करेगा। पिछले वर्ष वहीं उसमें परिचय हुआ था। तब से वह बार-बार उसे बुला रही थी। अब जाकर वीसा मिला है। और हमारे साहबजादे कल शादी करने जा रहे हैं। यहां नहीं आ सकेंगे। क्षमा मांगी है। अहा! किसी नादगी से आपने सब कुछ लिखा है। मैं पूछता हूं—क्या जरूरत थी मुझे पत्र लिखने की?”

तब तक दीपा उनसे चिट्ठी ले लेने में सफल हो गई थी। पढ़ते-पढ़ते उसे लगा जैसे उसका दिल डूब चला है। शरीर को लकवा मारता जा रहा है। परन्तु जब पढ़ चुकी तो सहज विश्वास से दृष्टि उठाकर पति की ओर देखा। बोली, “सुनो।”

“क्या सुनूं? उसने यह निश्चय कर लिया है कि जो मैं कहूंगा वह उसे नहीं मानेगा।”

“सुनो भी। अब प्रोध करने से कोई लाभ है? बात साफ हो गई है। चलो छुट्टी हुई। न अब प्राशा रखेंगे, न दुख होगा।”

और आगे बोलने में असमर्थ वह चिट्ठी वहीं रखकर सीधे अपने कमरे में चली गई। प्रोफेसर ने “मैं...मैं...” करते-करते अचकचाकर पत्नी की ओर देखा, फिर जैसे परिस्थिति समझकर लांछित-लज्जित वहीं कुर्सी पर बैठ गए। उसके बाद किसीने किसीसे कुछ नहीं कहा। उस रात खाना-पीना भी नहीं हुआ। प्रोफेसर देर तक खिलौनों के टुकड़े बीनते रहे। बीन चुके तो बैठकर पत्र लिखने लगे। दीपा सहसा बीच में उठकर आई, “सुनील को लिख रहे हो? देखो, कुछ ऐसी-वैसी बात न लिख देना। खून में उसके भी गरमी है। वस आशीर्वाद लिखना।”

“मैं उससे हार मानने वाला नहीं हूं। वह डाल-डाल तो मैं पात-



पान । गो बट मो ।”

दीपा ने पडा—

“मेरे ध्यारे सेटे ।

“पापा हे मूम महुनन पडुन गण हो । बरी मूमी दुई कि धामि मूमने  
बीगा मिन गया । पापी का बीन मा दिन निमिन हुमा, यह मोटनी डाक  
मे निमो । लुम्हारी मा घोर मे दीनों मूमने घोर बट सेरपाना बो बट-  
बहुन धामीप्राद भेजने हे । दोनों मूम गहो । मूरन बित्र भेजना । मार मे  
उत्तर देना । मूमारी मा यही उनाबनी मे राह देण रही हे । मूम दोनों को  
हम दोनों का केर-केर ध्यार ।

मुम्हारा निश  
मुमाग ”



## फासिल, इन्सान और...

---

साठ वर्ष की आयु में भी विनोदगंकर को अधिक से अधिक पैंतीस-चालीस का कहा जा सकता है। चेहरा वंसा ही सुचिक्कण-रक्तिम, आंखें वंसी ही भावाकुल और मुस्कान वंसी ही मनोहारी, पर आज उदास-उदास वह करवटें बदल रहा है। नींद उसे कभी अधिक नहीं आती। चार वजते न वजते तारों-भरा आकाश उसके मस्तिष्क पर उभर आता है। अभी भी सामने के द्वार से उसका सदा का मित्र शुक्र तारा उसे पुकार रहा है, 'आओ भई, छह वज रहे हैं। एक घण्टे से राह देख रहा हूँ। आज क्या वायु-सेवन को नहीं चलोगे !'

शुक्र के पास ही, नीम के पेड़ के ऊपर से उठता हुआ, अमा से दो दिन पूर्व का चन्दा कुछ ऐसा लग रहा है, जैसे बच्चे को बहकाने के लिए किसी मां ने खरबूजे की पतली फांक काटी हो। और बच्चे ने मचलकर उसे फेंक दिया हो। कहीं वह बच्चा वह स्वयं ही तो नहीं है !...

यह विचार आते ही, उसके शरीर में झुरझुरी-सी उठी। करवट बदलकर उसने चाहा कि दरारों से भाँकते हुए सुनहले दिन की ओर से ह आँखें मूंद ले। पर जैसे ही पलक झपकती है रात के सारे चित्र एक-एक करके उसके वक्ष पर उँकर आते हैं। चित्र कम नहीं हैं, पर चित्रों से भी डी उनकी वेदना है। उस वेदना के कारण ही उसकी स्वाभाविक प्रफु-



लता जैसे ठिरठिरा गई हो। वही वेदना-बोव सी-सी नूल बनकर उमके अन्तर को छेदे जा रहा है। पीछे के कमरों से उठती उसके वच्चों की चूहलवाजी भी उसे मुखरित नहीं कर पा रही है।

रात 'नव कला निकेतन' में उसका सम्मान हुआ था। एक प्रदर्शनी का आयोजन भी था, जिसमें उसके अभिनय-काल के सभी चित्र प्रदर्शित किए गए थे। राधेश्याम कथावाचक, चैताम्ब, ध्याकुल, आमा हथ आदि सभी नाटककारों के नाटकों में उसने अभिनय किया था। दूर-दूर तक हमकी प्रसिद्धि थी। उसका नाम सुनकर कहा-कहा के लोग अभिनय देखने आते और रात-रात-भर बैठकर देखते। बीररथ का नाटक होता, तो दर्शकों के शरीर में मोरता जैसे बाध तोड़कर उमड़ पड़ती। कदण रस का नाटक देखकर दर्शक सिसकिया भरने। शृंगार रस के नाटकों में युवकों और युवतियों, दोनों का अभिनय वह एक-सी सफलता से करता। उसके शरीर की गठन, उसका रक्तिम गौर वर्ण, उसके धम-धम का सौंदर्य सभी कुछ ऐसा था कि सावित्र-पुत्र युवक का अभिनय करते समय उसके भूषणध्व फड़क उठते। रूप के सम्भार-भी युवती का अभिनय करता, तो वे ही धम किसलय-कोमल हो आते और आँखों से मद भरा-भरा पड़ता। ताण्डव और लास्य सभी रूपों के चित्र, सभी स्वर्णिम मेडल और ताम्रपत्र, जो उमने पाए थे, उस प्रदर्शनी में प्रदर्शित किए गए थे।

कितने गर्व से रात उमने अपने अभिनय के सभी रूपों का प्रदर्शन किया था। तब कितना उल्लास था उसकी आँखों में। क्यों न होता, यह अभिनय उनके व्यक्तित्व का एक धंग ही तो बन चुका है। परन्तु दर्शकों की क्या हो गया है! यह किसी और समय में तो नहीं भटक गया, जहाँ न कोई उनकी भाषा समझता है, न भावाभिव्यक्ति को ग्रहण करता है। जैसे वे सभी मनुष्येतर जानि के हो, जो उसके प्रत्येक रंग और प्रत्येक भाव के प्रदर्शन पर समान और मुक्त रूप से हँसे या रहे हैं। सम्पूर्ण दर्शक-प्रकोष्ठ के भूषण मीने एक सम्मिलित टह्राके से घरती जैसे बार-बार बाप-बाप उठती है। यह अपने भावाभिव्यक्ति में मित्रि भी प्राण-जक्ति भरने







तारी-से दमक रहे हैं।

एकाएक मुग्धा रागिनी मूक मन बोल उठी, "गब पापा, रात का घादवा अभिनय प्रदर्शन 'मुपबं' था। मैं तो सोच भी नहीं सकती थी कि उस बाल के बन्नाकार दर्शन 'पावरफुल' में। मेरी धीसिम के लिए रात इतना मंदिर मिला कि बड़ा बहू!"

घन्तर ने पुरुषित विनोदकर ने बचकबाहर कहा, "धीमिम!"

उत्तर दिया भयभूति ने, "हां बाबा, यह रागिनी डॉक्टर के लिए 'धीमिम' निग रही है। विषय है, 'हिन्दी रमम का विकास'।"

"घोर बाबा! रात यह विभाग में सामने मूर्त हो उठा। क्यों ही रोग बहने है कि हमारे यश रमम घोर अभिनय की परम्परा नहीं है।"

तब तक उनकी लड़ाक्या गुबीरा घोर सोमा, यहा लड़का बालिदाग घोर उनकी पत्नी राना घोर छोटे बच्चे सभी उनके कमरे में था चुके थे। उनकी मस्तिष्क गर्म में ऊबा होना था रहा था। नेत्रों की भाषाकृतता दीप्त हो रही थी। कुछ राग पूर्व की धर्मान-धयाध उदासीना को जैसे बिगोने कील दिया हो, यह निराहित हो चुकी थी। ये सब भी मोन से परन्तु जैसे मान से रुठे हो। छोटी लड़की गोमा ने कहा, "पापा, यह मामी कह रही थी..."

घोर रागिनी की घोर देखकर मुस्कराई, "बह दूँ मामी!"

उन्होंने प्रमायास पहने सोमा घोर फिर रागिनी की घोर देना। भयभूति हंसकर बोला, "बाबा, यह कहती थी कि पापा की 'परमैलिटरी' बड़ी

ही।"

रागिनी ने सहज मन बहा, "तब होनी तो जरूर कर लेती।"

"जी हाँ, जरूर कर लेती।"

"क्यों न कर लेती? तुमसे तो सात बार मुन्दर सपने हूँ।"



भवभूति तनिक भी अप्रतिभ नहीं हुआ, बोला, "जैसे तब आप भी आज जैसी होती। छुईमुई गुड़िया-सी घर के किसी कोने में छिपी होती। तब की नारी में इतना गहम कहा था कि पुरुष से नज़र मिला सके। और कहीं गलती से मिल भी जानी तो बस उगका तो मरण ही हो जाता। उस जमाने में लड़की के मंच पर माने की कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। नहीं तो..."

एकाएक पीछे से सरला का स्वर सुनकर सब सकपका गए। क्रुद्ध-कम्पित वह कह उठी थीं, "जर्म नहीं आती तुम लोगों को, कैसी बातें कर रहे हो। बड़े-छोटे का कोई लिहाज ही नहीं रह गया।"

अब तक जो मौन थे, वही विनोदशंकर एकाएक 'हो-हो' करके जोर-से हंस पड़े। कई क्षण हंसते रहे। खीझ से भरी पत्नी जब चली गई तो बोले, "जानते हो एक बार तुम्हारी इस मम्मी ने क्या कहा था! कहा था, 'हाय, तुम इतने सुन्दर क्यों लगते हो, मुझे डर लगता है।' मैं बोला, 'कैसा डर! कोई भगा ले जाएगा!' तब इसने सचमुच गम्भीर होकर कहा था, 'और नहीं क्या तुम समझने हो कि पुरुष ही स्त्री को भगाते हैं। सुन्दर और बलवान पुरुष के पीछे स्त्री क्या नहीं कर गुजरती।'"

फिर सहसा दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, "आज का जमाना होता तो शायद..."

जैसे कुछ अनकहनी कह गए हों। हतप्रभ जीभ काटकर सबकी ओर देखा, सभी नतदृष्टि शरास से मुस्करा रहे थे। उन्होंने हंसकर कहा, "कुछ भी हो, वह समय सचमुच बहुत अच्छा था। आज की-सी सुविधाएं नहीं थीं। दिन-रात चिंचियाते यन्त्र नहीं थे। स्वर और स्वरूप पर ही सबकुछ निर्भर था। सिनेमा में न जाने कितनी बार एक दृश्य का अभिनय होता, जो श्रेष्ठ बन पड़ता है, उसीको वे यन्त्रस्थ कर लेते हैं, पर मंच पर बार ही वह अवसर मिलता है। कितनी साधना करनी पड़ती थी तब, न उस साधना की कीमत भी मिलती थी। दूर-दूर से आकर लोग



रात-रात-भर नाटक देखते थे। कई-कई दिन तक देखते थे। दिल खोल-कर प्रशंसा करते थे-...

वह बोलते रहे और रागिनी सत्परता से लिपती रही। एक-एक शब्द को पीती रही। जब उनकी दृष्टि उसकी ओर गई, तो प्रवाह में जैसे उन्माद भर उठा। वह सब कुछ भूल गए। वह पूछना तक भूल गए कि वह किनीको 'बोर' तो नहीं कर रहे। उनके नयनों में तो वह युग जैसे भूत हो उठा था। कैसे नाटक लिखे जाते थे, कैसे उन्होंने समाज-सुधार में योग दिया, कैसे राष्ट्रीयता की ज्योति जलाई, फिर कैसे सिनेमा ने एक दिन चुपके से आकर इस कला का गंगा घोंट दिया। सरकार वेश्याओं की कम्पनी बनाकर जो काम न कर सकी, वह विज्ञान ने क्षण भर में कर दिखाया।...

उनके बोलने का वही अन्त नहीं आ रहा था। इस क्षण लगता कि अब जैसे समाप्त करेंगे, पर वही से एक नया स्रोत फूट पड़ता। उन्होंने उस काल के नाटकों की, मंच की, अभिनय की तार्त्विक, सामाजिक, मनो-वैज्ञानिक सभी दृष्टियों से विवेचना की, इस विश्वास के साथ ही कि उनसे बढ़कर इस कला का पारखी कोई नहीं है। भाज के छोकरे कला को क्या जानें! आदेश में आकर वह बोले, "सिनेमा और नो सिनेमा, रेडियो और नो रेडियो, टेलीविजन और नो टेलीविजन, थियेटर विल नोट डाई, नो, इट विल नेवर डाई।"

वह हिन्दी के पक्षपाती हैं। इस सीमा तक कि उन्हें मदान्य कहा जा सकता है। परन्तु आवेष्ट में आकर जब वह भाषण करना शुरू करते हैं, तो जिस बात पर वह विशेष प्रभाव डालना चाहते हैं, उसे अंग्रेजी में बोलते हैं।

उन्हें विराम की तकनीक भी चिन्ता नहीं थी, परन्तु अभी सहसा उनकी पत्नी सरला का स्वर उनके कानों में गूँज उठा। पास आती हुई वह बोली, "बया पुरान-माया से बैठे हो, बोलना शुरू करते हो तो जैसे नया चढ़ जाता है।"

फिर रागिनी की ओर देखकर कहा, "उठ बहू, कब से वे सब बैठे रह



## ११४ मेरी प्रिय कहानियां

देख रहे हैं। चाय ठण्डी हो रही है।”

जैसे वह अचानक ही एक समय से दूसरे समय में आ पहुँचे हों। हत-प्रभ हो उन्होंने देखा, वहाँ बस केवल रागिनी है, जो अब लिखना छोड़कर अपनी सास की ओर देख रही है। उसकी दृष्टि में तृप्ति मुखर है। कह रही है, “ममी, मैं जो काम एक वर्ष में न कर पाती, वह पापा ने कुछ क्षणों में करवा दिया है।”

सरला बोली, “अरे, तो यह कोई भागे थोड़े ही जाते हैं। इन्हें तो कोई तेरे जैसा भक्त-श्रोता मिले, तो चौबीसों घण्टे बोलते रहेंगे। तू उठ, चल।”

फिर पति की ओर देखकर कहा, “तुम भी वहीं आ जाओ न! भाग्य से आज सभी इकट्ठे हुए हैं। गरम-गरम कचोड़ियाँ और जलेबियाँ मँगवाई हैं। रसगुले भी हैं।”

पर वह तो जैसे अब वहाँ थे ही नहीं। वह इतनी देर बोलते रहे और सुनने के लिए केवल रागिनी ही वहाँ रुकी रही। उसे ‘थीसिस’ जो लिखना था। उनका सब उत्साह एक क्षण में चुक गया। निमिषमात्र में अमृत जैसे जहर हो उठा। अनमने-से बोले, “तुम चलो, मैं आता हूँ।”

लेकिन वे दोनों तो पहले ही चली गई थीं। न जाने क्या हुआ, चुम्बक की भाँति वह भी पीछे-पीछे खिंचे चले गए। अभी द्वार से इधर ही थे कि कहकहों की गूँज से उनका मस्तिष्क भर आया। उन्होंने सुना। उनका लाड़ला बेटा भवभूति कह रहा है, “पापा तो अब म्यूजियम की वस्तु हैं। पर आज इस रागिनी ने उन्हें जगा दिया।”

रागिनी हंसते-हंसते बोली, “म्यूजियम ज्ञान का भण्डार होते हैं। वहाँ से जो ज्ञान प्राप्त होता है वही तो सर्वोत्तम है। मेरी ‘थीसिस’ में प्राण पड़ गए हैं।”

आधा घण्टे तक राह देखने पर भी जब विनोदशंकर वहाँ नहीं पहुँचे तो सरला फिर उनको देखने आती है। पाती है कि पैरों पर लिहाफ ले छत पर दृष्टि जमाए बैठे हैं। उस पीड़ित और क्लान्त दृष्टि में ऐसा



कुछ है कि वह सह नहीं पाती है। उससे भरती वेदना उसके हृदय के सातों पातालों को छेदती चली जाती है। और उसका सारा क्रोध तरल हो रहता है। पास भाकर खड़ी बड़े प्रेम से उनके कन्धे पर हाथ रखकर कहती है, "क्या बात है?"

बिम्बू-से विनोदशर दृष्टि छत से हटाकर पत्नी के मुख पर जमा देते हैं। वह कापती है और वह जैसे कहीं गह्वर में से बोलते हैं, "बैठो सरला!"

"चाय नहीं पियोगे?"

वह हसते हैं, "क्यों नहीं पियूगा? पर उनके बीच में क्या अच्छा लगूंगा!"

सरला सहित बटोरकर कहती हैं, "क्यों, वे क्या अजनबी हैं। अपने ही बाल-बच्चे हैं और भगवान की कृपा से सभी..."

"हां, सरला मैं भी जानता हूं वे अपने ही बच्चे हैं। प्रतिभाशाली भी हैं? ऊँचे-ऊँचे पदों पर हैं। मुझे उनपर गर्व भी है।..."

और फिर छत पर दृष्टि गड़ाकर बोले, "मोती सीप के गर्भ से जन्म लेते हैं परन्तु...जाने दो, हम इंसान हैं, केवल हाड़-मांस के पुतले नहीं। तुम चाय नहीं भेज दो!"



## अभाव

ज्यों-ज्यों प्रोफेसर वर्मा की तृष्णा बढ़ती त्यों-त्यों अभाव की रेखा भी गहरी होती। रसवादी प्रोफेसर और रस-सागर के बीच एक अभेद्य दीवार थी, जिसके पार वे रस के लहराने समुद्र को देख तो सकते थे, पर उस तक पहुंचना असंभव था। इसी कारण अनजाने ही एक नई प्रवृत्ति उनके भीतर जन्म ले रही थी—वे पास-पड़ोस के तथा सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति का सूक्ष्म अध्ययन करने लगे थे। हर आदमी के साथ सुख-दुःख लगा रहता है परन्तु जैसे ही वे किसीके दुःख को खोज निकालते, उनका हृदय अनायास ही उल्लास से भर उठता। परन्तु दुनिया तो त्रिचित्र है। कभी-कभी ऐसा होता कि प्रोफेसर किसी व्यक्ति में ज़रा-सा भी दुःख न ढूँढ़ पाते। तब उसको हंसते देखकर उनकी छाती में हूक उठने लगतीं और वे दीर्घ निःश्वास खींचकर कहते, “आह! कितना सुखी मनुष्य है?”

बात यह है कि अभी-अभी उनके पड़ोस में एक नया परिवार आ बसा है। केवल दो प्राणी, पति और पत्नी। दोनों सुन्दर, सुसंस्कृत और मधुर-भाषी। सदा हंसते रहते और जब किसीसे बोलते, तो दादी की कहानी की जकुमारी की तरह मुख से फूल भरते। देखते-देखते वे पड़ोस की चर्चा पय वन गए। हर एक गोष्ठी में, चाहे वह पुरुष-वर्ग की हो अथवा -वर्ग की, उनकी सज्जनता, विनम्रता और विद्वत्ता की चर्चा बड़ी श्रद्धा



से की जाने लगी और सबको उनके सुखी जीवन से ईर्ष्या हो घाई। स्त्रियों की सभा में उनकी पत्नी की विशेष सराहना की जाती। युवतियाँ कहती—  
“कैसी सुन्दर है; गोरा-गोरा रंग, सुघा-सी नाक, कामी-कजरारी भाँखें और स्वस्थ सुकोल शरीर। जी करता है, बैठे-बैठे देखा करें। और हमेशा हसती ही रहे है।”

“हा बहिन ! हमेशा हसती ही रहे है जैसे फूल झरने हो और बोली कितनी मीठी है। जाते-जाते पूछ लेगी, ‘कहो बहिन ! क्या बना रही हो ?’ ‘भजी बहिन जी, हमें भी दिखा दो क्या बुन रही हो !’ ‘ओहो, बड़ा सुन्दर हाथ है तुम्हारा।’—ऐसे ही सबका मन बढ़ाती रहे है।”

“और बहिन ! एक बार पूछो तो दम बार बतावे है। फिर-फिरकर समझावे है। इस तरह बतावे है कि बस मन में उतरता चला आ है। उस-पर सिपल यह है कि ज्यादा बात भी नहीं करे।”

एकसाथ कई युवतियाँ उनकी हाँ में हाँ मिलाती। एक कहती, “सो तो है ही बहिन !”

दूसरी बोलती, “हा जी ! बड़ी भली है, परमात्मा उसे सुखी रखे।”

तीसरी कहती, “जी करे है बहिन कि यश उसके साथ रहे।”

इसपर एक कहकहा लगना। कोई मनबली कह उठती, “दूर पगली ! उसका मालिक यश तेरी जान को रोवेगा ?”

जब हसी रुकती तो बूढ़ी दादी बोल उठती, “बहू, मुझे तो उसकी एक बान बड़ी प्यारी लगे है।”

“क्या जी ?”

“बस हमेशा काम करती रहे है और सब काम करे है। नहीं तो नये पमाने की लुगाई क्या ऐसी हो है। बाजार जा है, मगर क्या मजान जो कभी पता चाटे। मोघो जा है और सोदा लेकर लौट आये है। घर में बुहारी-भाङ्गू, चीबा-दानन सब धाप करे। बाने भी है। कह्ये थी—  
‘माँजी ! कातना मुझे बड़ा प्यारा लगे है। घर-घरें में तो जैसे भगवान गावे है। मेहिन-भी छा जावे है।’ सबको भी पसंद है।”



वह ने घनरज से कहा, "जी, गया मन !"

"मीर गया भूठ कहूँ हूँ ! तेरी गरह ना है। दो हरफ पढ़े और मेमसाव भेज पर जा सोई। और उने क्या कम मुन है। मालिक पलकों पर रमे है। दोनों जून दोनों जने हवाखोरी को जा है जमे सीना-राम की जोड़ी हो।"

दूगरी वह कहती, "पर माजी, एक वान है; अभी उसकी गोद सूनी है। उमर तो उसकी काफी हो गई।"

माजी जवाब देती, "वह, देखने में तो लोडिया-सी लगे है। दिन माएंगे तो गोद भी भरेगी। आजकल बच्चे जरा बड़ी उमर में हो हैं।"

एक तरह जहाँ भी दो औरतें मिलती, घर में, मेले-ठेले में, हाट-बाजार में, शादी-गमी में, वहीं उनकी चर्चा आपसे-आप अनजाने ही चल पड़ती। प्रोफेसर वर्मा की पत्नी भी सब बातें मुनती है। वह स्वयं उसकी बड़ी प्रशंसक है क्योंकि अपनी आंखों में अपनी छत से सब कुछ देखती है। उनकी छत से छत मिलती है। जब प्रोफेसर की पत्नी ऊपर आती, तो कभी-कभी पड़ोसिन से दो बातें कर लेती। पर अभी वे बातें बहुत आगे नहीं बढ़ी हैं। एक तो प्रोफेसर की पत्नी बातें कम करती है और करती है तो साधारण औरतों की बातों में उसे ज्यादा दिलचस्पी नहीं है। लड़ाई है, लड़ाई की वजह से जीना दूभर हो गया है। महंगाई बढ़ रही है, और महंगाई छोड़िए, पैसा है पर चीज नहीं है। खरीज का न जाने क्या हुआ ? दियासलाई, मिट्टी का तेल, चीनी, मसाले, इन सबके अभाव में गिरस्ती बस जंजाल बन गई है।

पड़ोसिन मुस्कराकर कहती, "बहिन ! यह तो जीवन का एक रस है। अभाव न हो तो भाव को कौन पूछे। अपनी असलियत का पता आदमी को ऐसे ही चलता है।"

प्रोफेसर की पत्नी भी अनायास मुस्करा उठती, "सो तो तुम ठीक हो बहिन, पर जी को दुःख तो होता ही है।"

"दुःख तो बहिन मानने का है। मानो तो दुःख का अन्त नहीं है और जाने तो मौत भी सुखदायी है।"



और फिर प्रोफेसर की पत्नी को और देखती और हंसकर कहती, "पर बहिन, दुनिया में रहकर इस मानता से कौन बचा है? वे कहने थे कि दुःख सभीको होता है। पर हाँ, दुःख को दुःख मानकर भी जो उसे सहने की शक्ति रखते हैं उनके लिए दुःख भी सुख हो जाता है।"

प्रोफेसर की पत्नी उसके पति की विद्वत्तापूर्ण युक्ति का क्या जवाब देती और बात एकदम रुक जाती। कभी बेबी रो उठती, कभी प्रोफेसर पुकार लेते। प्रोफेसर को यह सब प्यार नहीं है। पत्नी जब-जब उसकी प्रशंसा करती, वे धनमने-से हो उठते। कभी-कभी तो चिनचिना पड़ते, 'छोड़ो जी उनकी बातें, बनती है।' पर पत्नी को ऐसी कोई बात नहीं दिखलाई पड़ती। फिर भी वह सोचा करती—शायद ये सच कहते हैं, बरना कोई इतना खुश कैसे रह सकता है। मैं उससे भेल बढ़ाऊँगी तब उसकी प्रगतिपत्र का पता चलेगा।

भेल बढ़ाने का एक भौका अमानक दूसरे ही दिन आ गया। यद्यपि उसका आरम्भ दुःखमय था, पर इसीलिए वह स्थायी था। बात यह है कि माँ की तरह बेबी भी अचानक मुँह पर चढ़कर उनके घर में आका करती है। ठीक मुँह पर पीपल के दस्त की कुछ शाखाएँ भुक भाई हैं। अक्सर वह उन्हें तोड़ने लगती है। उस दिन वह जैसे ही उन्हें तोड़ने को लगी, पैर रपट गया और वह घम्म से नीचे आ गिरी। बीज निकल गई। प्रोफेसर की पत्नी नीचे थी, हड़बड़ाकर दौड़ी। देखा—बेबी बुरी तरह रो रही है और उसका चेहरा खून से मरा है। उसका दिम धक् से रह गया, "हाय! यह क्या हुआ। बेबी, बेबी!"

बेबी धीरे-धीरे संज्ञा खोने लगी और उसे संभालती-संभालती माँ खुद पागल हो चली, पर ठीक इसी समय मुँह के पीछे एक मुस्कराता हुआ

बोला उसका गीद म था। रुई स माथ का रक्त पाछता-पाछता वह बोली, "जल्दी से दूध हो तो ले आओ। न हो तो निरी बाण्डी ही दे दूँगी।"



प्रोफेसर की पत्नी ने कृतज्ञ होकर कहा, "दूध है, अभी लाती हूँ।"

"और चम्मच भी।"

"जी।"

पत्नी गई और वह गून पोंछती रही। माथे पर दाहिनी ओर गहरा घाव बन गया है। उसे 'डीटोन' ने साफ किया और धीरे-धीरे उसमें पाउडर भर दिया। फिर पट्टी बांधने लगी। बेबी पूरी तरह होश में नहीं है। जब दूध में ब्राण्डी मिलाकर चम्मच से उसे पिलाई, तो उसने आँखें खोलीं। सुन्दर गुलाबी चेहरा सफेद चिट्ठा पड़ गया। वह मुस्कराई और बोली, "बस बेबी ! घबरा गई। अरे दोर तो न जाने कितनी बार कूदते हैं।"

बेबी आँखें खोले देखती रही। न हंसी, न रोई और न बोली। प्रोफेसर की पत्नी की आँखें फिर-फिर कृतज्ञता से भर आईं। बोली, "आपने..."

"अरे छोड़िए भी ! बेबी को डाक्टर के पास ले जाना होगा। प्रोफेसर साहब आएँ तो कह दीजिए, और देखिए, बेबी को लिटाए रखना चाहिए। ज़रूम गहरा है।"

तभी जीने में खटखट हुई। प्रोफेसर कालेज से लौट आए। पड़ोसिन ने सामान संभाला और अपने घर लौट चली। जाते-जाते फिर कहा, "ब्राण्डी छोड़े जाती हूँ। ज़रूरत होगी तो फिर दीजिएगा।"

प्रोफेसर ने यह सब सुना और बेबी को खून से तर देखा तो घबरा उठे। बोले, "यह क्या हुआ ?"

"बेबी मंडेर से गिर गई।"

"कहाँ चोट लगी ? ज्यादा लगी क्या ?"

"सिर में खूब गहरा ज़रूम है। पड़ोसिन ने 'फर्स्ट एड' दी है। कहती है, अभी डाक्टर के पास ले जाना होगा।"

प्रोफेसर तभी बेबी को लेकर डाक्टर के पास गए। मरहम-पट्टी हुई। टर ने कहा, "प्रोफेसर ! आपकी पत्नी बड़ी चतुर है।"

"जी !"



“पट्टी थड़ी अच्छी तरह की है। ट्रेंड है।”

प्रोफेसर के जो में थाया कि कहे—डाक्टर, जिसने पट्टी बांधी है वह मेरी पत्नी नहीं है। पर न जाने क्या हुआ, वे बोल न सके। खुदचाप बेबी को लेकर लौट आए।

सभी ऊपर से आवाज आई, “सुनिए तो।”

देखा, वही है। पूछ रही है, “क्या कहा डाक्टर ने?”

प्रोफेसर की पत्नी ने जवाब दिया, “बापकी सारीफ कर रहा था। कहता था ज़रम महरा है। देर सगेगी पर डर नहीं है।”

वह मुस्कराई, “सब ठीक हो जाएगा।”

और रात होने से पहले एक बार फिर पूछने आई। इस बार उसके पति भी हैं। और फिर वे दोनों रोड सवेरे धूमकर लौटते तो फूँकों के कई गुच्छे ले माने। पूछने, “बेबी कैसे है?”

“ठीक है।”

“मे फूल उसे दे दीजिए।”

दिन बीतते, ज़रम भरता और साथ ही साथ पड़ोसिन का प्रेम भी बढ़ता। कभी-कभी छत से आकर वह बेबी को देख भी जाती है। जबकि कोई न कोई सिलौना ले आती है। फूँके हुए उड़नेवाले गुब्बारे, सजी हुई गुड़िया, दो घोड़ों की गाड़ी या सुन्दर सलौनी गाय।

प्रोफेसर देखते और एक अनिर्वचनीय पीडा से भग्न उड़ते। कहते, “मना क्यों नहीं करती?”

पत्नी कहती, “कैसे करूँ? सोचती हूँ, इस बार खरब मना करूँगी, पर वह आती है और ऐसे प्रेम से बोलती है, जैसे बेबी उसीकी है। थग, मैं बोल भी नहीं सकती।”

प्रोफेसर और भी चिन्तित, “बाहियान! यह गव बन्द होना चाहिए।”

“तो क्या करूँ?”

“मना कर दो।”



“पर जानते हो, इन्हींकी बदौलत बेबी बची है।”

और तब पत्नी की आँगें भर आती हैं। प्रोफेसर उसे देखकर मुंह फेर लेते हैं। शायद उनका दिन भी उमड़ता है—प्रेम से या घृणा से, कौन जाने? पर उधर का कम उसी तरह चलता रहता है। यद्यपि जैसे-जैसे ज़रम भर रहा है वैसे-वैसे उनका आना भी कम हो रहा है, पर प्रेम की गहराई बढ़ रही है।

आँखों के घाव भर गया पर अर्द्ध चन्द्राकार-सा एक निशान वहाँ बना रह गया है। चन्द्रमा के कलंक की तरह यह रेखा प्रोफेसर की पत्नी की अच्छी नहीं लगती लेकिन पड़ोसिन मुस्कराकर कहती है, “हलो! बेबी के माथे पर चन्द्रमा! शंकर बाबा का चन्द्रमा! कैसा सुन्दर! कैसा प्यारा!”

बेबी हंस पड़ती है।

एक संध्या को उसने छत पर से आवाज दी, “ज़रा सुनोगी बहिन?”

प्रोफेसर की पत्नी शीघ्रता से आई, “क्या है जी।”

“लो यह क्रीम है। धीरे-धीरे दो उंगलियों से घाव पर मलिए। देखिए, ऐसे धीरे-धीरे मालिश कीजिए। निशान मिटा नहीं, तो इतना फीका पड़ जाएगा कि दूर से कोई जान न सकेगा—चन्द्रमा में कलंक है।”

प्रोफेसर की पत्नी ने कृतकृत्य होकर कहा, “आप बहुत अच्छी हैं।”

“यानी बहुत खराब!”

प्रोफेसर की पत्नी धक् से रह गई, “जी! नहीं, नहीं जी।”

पड़ोसिन खिलखिलाकर हंसी, “आप तो डर गईं। पर कहा करते हैं कि किसीको यह कहना कि तुम बहुत अच्छे हो ऐसा ही है जैसे यह कहना कि तुम बहुत बुरे हो। क्योंकि जो आदमी अच्छा ही अच्छा है वह अभी तक कहीं दिखाई देता नहीं। लेकिन जाने भी दो यह तो विद्वानों की बातें हैं। वे जानें और जानें तुम्हारे प्रोफेसर। हमें तो यों ही हंस-खेलकर जीवन देना है। और हाँ! कल आप हमारे घर आइएगा।”

“कल क्या है!”



"उनका जन्मदिन !"

"बघाई ! बहुत-बहुत बघाई ! बहिन ! तुम्हारा मुहाग भचल रहे !"

"घन्यशब्द बहिन ! पर भसली बघाई तो भापके भाने की है !"

"जुहर भाऊमी जी !"

"और प्रोफेसर भी !"

"बहु दूमी !"

"कहना नहीं, जाना होगा ! घबराइए नहीं, उनके द्वारा ग्योता पटु ब जाएगा !"

और वह फिर तिनल्लिला पड़ी ! प्रोफेसर की पत्नी लज्जा गई ! पटोमिन ने फिर कहा, "बेबी को न छोड़ आइएगा !"

"जी नहीं, सभी आएंगे !"

"घन्यवाद !"—उमने कहा और लौट गई !

प्रोफेसर ने जब सुना तब एक मार तो मन में उठा कि भना कर दें ! फिर सोचा—यह तो बुरी बात है ! इसके भलावा उन्हें पास से देखने का जो अवसर मिलेगा, उसे खोना ठीक नहीं होगा ! इसलिए वे भगले दिन ठीक समय पर पटोमी के घर पहुंचे ! द्वार पर उन दोनों ने सदा की तरह मुकु-लित मन सबका स्वागत किया ! जिस कमरे में वे बैठे वह बहुत बड़ा नहीं है ! फर्नीचर भी सादा और कम, पर जो है सुन्दर है और सुनियोजित है—एक और फर्श, जिसपर बिछी है दूध-सी नई चादर ! तकिये भी उतने ही उजले और कोमल ! कारनिस पर नाना प्रकार के पशु-पक्षी ! छोटी गोल तिपाइयों पर दान्तिनिकेतन के बने सुन्दर और रंगीन फूल ! लाल रंग के लूबसूरत फूलदानों में रखे हुए ताजे फूलों के गुलदस्तों में महकती भीनी-भीनी गन्ध ! प्रादमी भी ज्यादा नहीं ! कुल मिलाकर पांच पुरुष, चार स्त्रिया और चार बच्चे ! मानो एक पारिवारिक परिचय-गोष्ठी हो और सब छुट्टी के 'मूड' में ! प्रानन्द-विनीत और मधुर हास्य का वातावरण जैसे उमट उठा हो ! जैसे उनके लिए दुनिया में न कही पीड़ा है, न कि



## १२४ मेरी प्रिय कहानियाँ

चारों ओर है वग प्रमोद ही प्रमोद । घर में हूँगी, आसमान में हूँगी, हवा में हूँगी, सर्वत्र हूँगी ही हूँगी...

देगा, एक कोने में फूलों का प्रसन्न-व्यसन्न ढेर लगा है । एक मित्र बोल उठे, "जिधर देता फूल, मानो आप लोग मनुष्य नहीं फूल हैं ।"

पतिदेव बड़े जोर से हँसे, "अजी वृष्टिए मत ! इन्होंने तो आज मुझे फूल ही समझ लिया था ।"

हमारे मित्र हँसे, "कुशल मनाइए, इन्होंने आपको मसल नहीं दिया ।"

एक नवयुवती बोली, "अजी, फूल नहीं फूलों का देवता समझा होगा ।"

पत्नी ने मुस्कराकर कहा, "अजी, क्या उपमा दी आपने ! इनसे तो पत्थर के देवता कहीं अच्छे ।"

एक कहकहा लगा । पति ने हँसने-हँसते कहा, "क्यों नहीं । बेचारों पर कितना ही अत्याचार कर लो वे बोलेंगे थोड़े ही । पर भाई ! मुझसे तो ये सब सहन नहीं जाता । पहले ठंडे पानी में नहाइए । फिर पूजा करिए । फिर पूजा करवाइए । यह खाइए, देवी का प्रसाद, यह देवता का, यह आपकी दासी का, यह टीका लगवाइए, लीजिए मेरी मांग में सिन्दूर भर दीजिए । भला कोई अन्त है इस पूजा का ! बाप रे ! पत्थर ही की हिम्मत है !"

और तब ऐसा कहकहा लगा कि हँसते-हँसते सबके पेट में बल, आँखों में आंसू... पर क्या मजाल वह भैरी हो । उसी तरह हँसती रही । फिर हँसी-हँसी में काम की बातें चलीं । बवाइयाँ दी गई और सूचना मिली कि चाय तैयार है । सब उठे और मेज पर पहुँचे । प्रोफेसर ने अब एक बार ध्यान से देखा, "वही उल्लास ! वही उमंगों की बेगवती

—उन्होंने सोचा और म्लान मन चुपचाप चीनी के प्लेटों में रसगुल्ले हैं, गुलाब जामुनें हैं, पेड़े हैं, पेठे की



दिली है और है गरम गरम मसोमे, दामबीभी, टिबिया। बहने है, हमो-  
हमने और पार खो मे उगाडा खादा जाता है। प्रोफेसर भी हमने है और  
गारे है पर रह-रहकर उनसे हृदय मे जैसे बोई मूर्द खुभ उठती है। मे  
'मो' करना चाहते थे, पर वर नहीं मचते। हमजिए वीहा और भी धमका  
ही उठी है। सभी धवानक उम्होने देखा - बेबी मेननी-बूझी चारों ओर  
होइ रही है। सभी हम गिनोने को लुनी है सभी उमकी। ध्यान धापा कि  
बही कुछ मोइ न दे हमजिए पुकार मे। पर जैसे ही उम्होने पुरारना बाहा,  
बेबी भायी। उसका पैर निगाई मे मया। निगाई उगट गई और उसपर  
के गिनोने, बीमबी कपदान चूर-चूर टाकर पला पर बिगड़ गए। जैसे  
भूहोम धादा। प्रोफेसर खुड बिन्ना उठे, "बम्बारा! तुने यह क्या  
किया।"

जैसे लाम-भर के लिए प्रमाण मागर उबल उठा। सबकी दृष्टि उस  
ओर उठी। मृत्पिनी ने गुंन बार वृड प्रोफेसर का देखा, फिर सहमी-  
महरवाई बेबी को, और फिर गिनगिमाकर हम पछी। देखते-देखते बेबी  
को मोड़ी मे भर दिया और धामनों की तरह धूमने लगी, "बेबी! मेरी  
बेबी! जानती हो, तुमने धात्र एक बहुत बडा काम किया है, बहुत  
बडा।"

ओर फिर प्रोफेसर को ओर मुड़कर उसने कहा, "धाप बडे निंदयी है।  
ऐसे ध्यारे बहन को लादने है? गिनोनों का मुख्य गेयने मे है और जब  
उनमे सेना जाएगा, तो उनका दुटना जरूरी है।"

फिर धम-भर के लिए रुकी, जैसे सात मेरी हो। धीरे से बोली, "म  
जाने क्या मे रहा है। न कोई लुना था, न सेलता था। देखते-देखते धालें  
धक गई थी। धात्र बेबी ने उमी धकान को दूर किया है।"

ओर बहकर उसने फिर बेबी को ओर-ओर मे घूमा और फिर उठार-  
उठारकर सारे गिनोने उनके सामने धामने लगी, "गेलो और सोड़ो, मेरी  
बच्ची! गूब मोड़ो। धात्र हमका धल धाना ही चाहिए, धाना ही  
आहिए।"



## शतरूपा की मौत

२६ अगस्त, १९६१, तदनुसार ४ भाद्रपद, १८८३ शकाब्द । प्रातः  
दस बजे

फल शतरूपा का पत्र आया था और आज वह आने वाली है ।

वह मुनहरे वालों और उनींदे नयनोंवाली एक कोमलांगी लड़की है ।  
अब तक मैंने उसे दूर-दूर से ही देखा है । और हर बार उसके नये सौन्दर्य  
से अभिभूत हुआ हूँ । दूरी भी एक सौन्दर्य है, आकर्षण का सौन्दर्य ।

उसके आने पर मुझे प्रसन्नता होनी चाहिए, पर जब से पत्र पढ़ा है  
तभी से मेरा मन घुटा-घुटा-सा हो रहा है । मैं मान लूंगा कि मुझे डर लग  
रहा है, जैसे बहुरंगी सर्प को घूप में रेंगते देखकर लगता है ।

वह मेरे पुराने मित्र श्री मनु खन्ना की निजी सचिव और उसकी एक  
सस्ती बाजारू किस्म की मासिक पत्रिका 'सीमान्त प्रभा' की सम्पादिका  
भी है । खन्ना निहायत ही कमीना और बदजात इन्सान है, इसलिए दिन-  
प्रतिदिन प्रगति कर रहा है । सवेरे उठते ही वह नौकरों को डांटता है । वे

1. और अक्सर वे नहीं होते, तो गरीब बीबी को डांटता है । उसके  
वांछकर मालिश करवाता है । उस समय वह ऐसा लगता है  
2. गुहा-मानव बीसवीं सदी में भटक गया हो ।

3. एक छोटे-से कमरे में बैठता है । जिसके चारों ओर ऊंची दीवारें



हैं। उनके ऊपर से होकर उसके ऊँचा-ऊँचा बोलने का स्वर पड़ोसियों को परेशान कर देता है। वह धक्कर ऊँचा बोलता है और धक्कर धड़े-बड़े दावे भी करता है। वह गाँधी के हृदय-परिवर्तन में विश्वास करता है, इसी-लिए पहले क्षण जिसको वह मिटा देने की कसम खाता है दूसरे क्षण उसके पैर पकड़कर गिड़गिड़ाने में तनिक भी नहीं हिचकता। सभी सफल व्यक्तियों की तरह वह सुविधानुसार राजनैतिक दल बदलता रहता है। ब्लैक मार्केट में निष्णात है और सड़कियों को आकर्षित करने में 'बहुत कया' का नायक नरवाहन दल भी उसे नहीं जीत सकता।

उसको और शतरूपा को लेकर मैंने बहुत-सी कहानियाँ सुनी हैं।

सुना है कि उसको जब कही किसी मन्त्री, सचिव या मिला-मालिक से काम होता है, तो वह शतरूपा को अपने साथ ले जाता है। उसके धारीर से उठती मोहक गम्य की उपेक्षा आज तक कोई भी व्यक्ति नहीं कर सका। मोहिनी की भाँति वह सहज भाव से कहीं भी आ सकती है। जो उसकी इच्छा के विरुद्ध उसकी ओर देखने का दुस्साहस करते हैं उन्हें अपना शील बचाने के लिए खन्ना को काफी भेंट-भूजा चढ़ानी होती है।

सुना है कि खन्ना की परिणीता परिचयता मान रहा गई है और स्वामिनी के पद पर आ बैठी है—यह रूपा...

अब जाने दीजिए। सब सुनी-सुनाई बातें हैं। पर फिर भी मुझे डर लगता है। वह मेरे इस एकान्त अंधेरे कमरे में मेरे सामने बैठेगी। उसकी आँखों में एक अजीब-सा नशा है। वह मुझसे क्यों मिलना चाहती है? मैं मना क्यों न कर दूँ? अभी भी समय है, लेकिन मैं कबाकार हूँ, मुझे...हे प्रभु, मेरी रक्षा करना।

दस बजे रात

शतरूपा ठीक ग्यारह बजे आ गई थी। और दो बजे उसे जाना पड़ा।

इन तीन घंटों में मैंने उसे खूब पाम से देखा। इतने पास से कि मैं उसके गोरे-गोरे धगो में उठे हुए रोमों का वर्णन कर सकता हूँ। जब उसने



मेरे इस एकान्त अंधेरे कमरे में प्रवेश किया तो वह बेहद खूबसूरत लग रहा थी। उसने कहा, "मैं आ सकती हूँ?"

मैंने उसकी ओर देखा। गद्गद होकर बोला, "आओ, आओ। मैं तुम्हारी ही राह देता रहा था। क्षमा करना, कमरे में रींघनी कम है, बिजली जलाता हूँ।"

वह हसी, "अंधेरे एकान्त कमरे में बैठकर ही विचार मूर्त रूप लेते हैं। आपकी कहानियों के अन्तर्द्वन्द्व ने मुझे बार-बार भभोड़ा है।"

मैंने तब तक स्विच ऑन कर दिया था और ढेर सारा घबल प्रकाश उसपर बिखर गया था। मैंने उसे खूब पास से देखा। मेरा अन्तर्मन अनायास ही ग्लानि से भर आया। उस मोहिनी के नीचे निर्लज्जता झलक-झलक उठती थी। मैं कांपा, पर यन्त्रवत् मुस्कराकर कहा, "बैठिए।"

दोनों ही बैठ गए और कई क्षण अन्दर के तनाव से मुक्ति पाने का मार्ग ढूंढते रहे। किसी तरह मैंने कहा, "तुम्हारा पत्र मिला था। मुझसे क्या चाहती हो?"

वह फिर भी मौन, धरती की ओर देखती रही। बोलने का प्रयत्न किया परन्तु बोल नहीं सकी। बस खामोश निगाहों से देखती रही। उन खामोश निगाहों ने कितना कुछ कहा, बता न सकूंगा। शायद वह अपने रूप की निर्लज्जता को छिपाने की जी-जान से कोशिश कर रही थी। और इस कोशिश के कारण ही उसके गौर वर्ण में कभी-कभी स्वर्णिम आभा झलक उठती थी। मेरे मन में एकाएक करुणा का उद्वेग हो आया। मैंने कहा, "आप शायद भिन्न रहती हैं।"

"जी।" उसने छोटा-सा उत्तर दिया और फिर शब्दों के लिए छटपटाने लगी। जैसे-जैसे उसकी छटपटाहट बढ़ती गई, वैसे-वैसे वह तरल होती गई। हठात् उसके नयनों के कौर भोग आए और उन्हें पोंछने की चेष्टा किए वगैर उसने कहा, "मैं आपके पास सहायता के लिए आई हूँ। मे निराश तो न करोगे।"

मैं उसे देख रहा था। देखता रहा। बोला नहीं। पर वह जैसे इन्हीं



दृश्यों को कहने के लिए तड़फड़ा रही थी। कह चुकी तो उसका रग लीट भाया। और यह दृढ़ स्वर में बोली, "मेरे बारे में आपने बहुत कुछ सुना होगा।"

मैंने कहा, "सुना तो है, पर सुना हुआ क्या सब ही होता है?"

वह बोली, "कम से कम मेरे बारे में तो है। कहूँगी कि मैं उससे कुछ अधिक ही हूँ।"

देखता रह गया। वह सीधे मेरी आँखों में भँक रही थी। बोली, "जो कुछ मेरे बारे में प्रचलित है, उसको दोहराने की लज्जा में मैं बचना नहीं चाहती। पर शिष्टवेषण से साभ भी क्या। १४ वर्ष पूर्व मा केवल हम दोनों बहनों को लेकर ही किसी तरह यहाँ पहुँची थी। कैसे पहुँची थी, ठीक-ठीक याद नहीं। कुल छः वर्ष की थी। पर उसके बाद न जाने कितने पुरुष हमारे जीवन में आए। मुझे सबसे पहले नर्मा जी की याद है। उनकी बड़ी-बड़ी मुँछें थी। शरीर बेडगा था। देखकर मुझे डर लगता था। हमारे जीवन में आने के बाद मे कुल पाँच वर्ष बिगड़े। उन पाँच वर्षों में हमें मनुष्य बनाने के लिए उन्होंने जो कुछ किया उसकी याद करके मुझे रोना आ जाता है। काश, कि वह भीर जी पात्रे। उन्होंने पुण्य तो मुझे आपके पास आने का साहस दे सका है।

"फिर एक नर्मा जी थे जो समाज-सेवा केन्द्र के अधिकारी थे। उनकी बिल्की जैसी आँखें दिन में भी बमबनी थीं। हम दोनों बहनें उनसे बहुत डरती थीं। पर न जाने क्यों, मां उनकी प्रशंसा करने लगी थी। वे हमारा पूरा तर्क उठाते थे। और घरपर हम दोनों बहनों को बहुत-सी मोगी से भिन्नवाते थे। कहा करते थे—मनुष्य ही मनुष्य के नाम आता है। सबसे कम हेलमेट बढ़ाते रहना चाहिए।"

मैंने एकाएक कहा, "क्षमा कीजिए, क्या वे भी—"

"ओ नहीं", वह हम वही, "वे मरे नहीं; जेब में बिम्बा है। किसी सड़की का सींग धनहरण करने और फिर भार डालने के अरपार में राजगम बापबास की सदा भोग रहे हैं।"



“घोह !” मैं इतना ही कह सका।

उसने कहा, “लेकिन मे निरे मूर्ख थे। नहीं तो आज मे सब काम करके भी मनु गन्ना... मनु गन्ना से हमारा परिचय उन्होंने ही करवाया था। मैं गन्ना मे नफरत करती हूँ, मन्ना नफरत। मैं...मैं उसके हाथ में अला-दीन का निगम हूँ। वह स्वयं भी मेरा उपयोग करता है और दूसरों को भी करने देता है। वह हर वस्तु को इसी दृष्टि से देखता है और हर लड़की उसी दृष्टि में वस्तु मान है।...”

एकाएक उसे न जाने क्या हुआ। उसने कुर्सी के हथके को जोर से पकड़ लिया। रंग पीला पड़ गया। तीव्रता से कांपी और पीछे को गिर पड़ी। मैं पचड़ा उठा। तुरन्त पानी लाकर जोर-जोर से मुँह पर छपके दिए और पुनारने लगा, “रूपा...रूप, आंखें खोलो। आंखें खोलो।”

मैंने उसकी आंखों की पलकें उठाईं, उसकी हथेलियों को सहलाया, दिल की गड़कन महसूस की और यह भी महसूस किया कि इस क्षण उसे होश न आया तो मैं भी गिर पड़ूंगा। पर तभी वह कुनमुनाई। आंखें खोल-कर चकित मृगी-सी धून्य में ताकने लगी। फिर एकाएक उठ बैठी, “घोह ! मुझे क्या हो गया था। मैं ऐसी क्यों हुई। आप मुझे क्षमा कर दें। आपको...”

मैं भी संभल चुका था। धीरे से बोला, “लो पानी पी लो। और घर चली जाओ। शेष कहानी फिर किसी दिन सुनाना।”

वह पानी पी चुकी थी। अब सीधी होकर बैठ गई और उसने कहा, “नहीं, नहीं, फिर नहीं। कहानी इतनी ही है। कथाकार को क्या शब्द-शब्द समझाना होगा। वस दो शब्दों में आने का कारण और कहूंगी। न जाने आज कैसे साहस बटोर सकी हूँ। कल को इसे खो बैठी तो...”

मैंने यंत्रवत् कहा, “अच्छा, कहो।”

वह बोली, “सुनोगे ?”

उसका रंग फिर विवर्ण होता दीख पड़ा। मैंने तुरन्त कहा, “हां, सुनूंगा।”



“तो सुनो,” उसने खूब दृढ़ होते हुए कहा, “मैं मा बनने वाली हू और चाहती हूँ कि मा बनी रहूँ।”

बहकर उसने धाम्ने भींच ली। मैं नहीं जानना कैसे मैंने दीवार पकड़ी और धीरे-धीरे फाँस पर बैठ गया। शुक्र है उतनी देर का धाम्ने बंद किए लोके की पीठ पर सिर रख बैठी रही। जब उसने धाम्ने सीलीं तो मैं धपसक उमकी ओर देखता बैठ गया। उसकी धाम्ने में धाम्ने थे। कठ रुंध गया था। धोम न सकी। तुरन्त अपने ग्याउड में हाथ डालकर उसने एक निफाका निकाला। बोली, “तो इतें पड़ लो।”

पत्र बहुत लम्बा नहीं था। एक सास में ही पढ़ गया। अन्त में उसने लिखा था, “...सम्ना ने इनसे पूर्व दो बार मेरा मातृत्व छीना है। मैं नहीं चाहती कि तीसरी बार भी यह कहानी दोहराई जाए। वह मुझने रोज सैन्टी डाक्टर के पास जाने को कहता है। धाप तो जानते ही हैं कि बहुत-सी लेडी डाक्टर यही पेशा करती हैं। पर मैं चाहती हूँ कि मा बनी रहूँ। सम्ना ने मुझे ससार की ये सब चीजें दी हैं जो शरीर और रूप को सभारती हैं। पर वह मेरी धारमा को कलंकित करने में सफल हो गया। मैं गरीब थी, उमने मुझे धन दिया। बेसहारा थी, सहारा दिया लेकिन यह धन, ये सासारिक वस्तुएं, ये अपने-धाम्ने न तो सुख देते हैं न सन्तोष।...मैं सम्ना को खूब प्यार करती, यदि वह हत्यारा न बनकर मेरे बच्चे का पिता बनता। मैं तब कितना खुश होती। मैं जानती हूँ, मैं पापिष्ठा हूँ। पर यह भी जानती हूँ कि अपने बच्चों को मैं बहुत ही गहराई से प्यार करती हूँ। ओह! वह धभी भ्रूण धाम्ने है। पर मैं उसको सुनाने के लिए लोरिषा गाती हूँ। उसकी कमल जैसी धाम्ने में काजल लगाती हूँ। उसकी सुनहरी बालों की सटें धाम्ने हूँ। उसकी मवसन जैसी मुलायम हथेलियों को चूमती हूँ।

“मैं जानती हूँ, मेरा यह बच्चा अपने पिता का नाम न ले सकेगा। मैं चाहती भी नहीं कि उस जैसा बदजात इन्सान मेरी सन्तान का धाप बने। धाम्ने कहलाना उसमें कही बेहतर है। मैं उस धाम्नेवाद में भी नहीं फंसना



बाहरी किचोड़ उठा करके उसका तिला बन जाए। मैंने जो किया है उसे भीड़ों का माहौल भुममें है, पर मैं उसे गाना नहीं चाहती।...

सिहर में सारा का गया। अन्दर घाफ़ीन उमड़-बुनड़ घाया। पर मुनभन नहीं भी नहीं भी। कई क्षण बाद मैंने उसने कहा, "मेरे एक मित्र मजिस्ट्रेट है, सभी मेरे साथ चलो।"

वह बोली, "कौन?"

मैंने नाम बताया तो वह मुस्कराई। ओह, वह मुस्मान! किसीके मूग पर उतना पूर व्यंग्य सागद ही देगा हो। बोली, "कई बार सन्ना के पास मे उनके पास गई हूँ। कोई आशा नहीं। मजिस्ट्रेट, पुलिस, मन्त्री, कहीं कुछ नहीं हो सकता..."

मैं स्वीकार करूंगा, मैं कुछ नहीं समझ पा रहा था। उसकी समस्या की जटिलता और उलझन ने मुझे विमूढ़-सा कर दिया था। वही बोली, "कई बार आत्महत्या करनी चाहती। पर हर बार अन्दर से उसने मुझे खींच लिया।"

मैंने एकदम कहा, "तो फिर मैं क्या करूँ?"

उसने मुझे ऐसे देखा कि मैं सिहर उठा। कुछ कहूँ, इससे पूर्व ही वह फूट-फूटकर रोने लगी और क्षमा मांगने लगी, "मैं मुहजली क्या करूँ। कहां जाऊँ। ज़िन्दा रहना चाहती हूँ और...क्या कहीं मुझे नौकरी नहीं मिल सकती?"

मैंने उत्तर दिया, "भूठा आश्वासन नहीं दूंगा; इस हालत में कोई बहुत आशा नहीं है।"

वह बोली, "कोई आशा नहीं?"

उसके इस वाक्य में जो निराशा भरी हुई थी, उसने मेरे अन्तर को छेदकर रख दिया। जैसे बड़ई पेचकश से लकड़ी को छेद देता है। मैंने

,"नहीं, नहीं, मैं प्रयत्न करूंगा। तब तक..."

उसी क्षण हम दोनों ने अचरज और भय से देखा—मनु खन्ना मुस्क-  
ता हुआ मेरे द्वार पर खड़ा है। वह मेरे घर कभी नहीं आता। हम बात



तक नहीं करते। पर तब वह मुक्त भाव से मुस्कराकर बोला, “आ सकता हूँ भाई साहब।”

न जाने कैसे मैंने इतना ही कहा, “आइए।”

वह दो कदम और आगे बढ़ा। फिर रूपा से मुखातिब होकर बोला, “रूप! तुम्हारी बातें खत्म हो चुकी हो तो चलो; खाना ठंडा हो रहा है।”

क्षण-भर पहले जो रूप खूबार हो उठी थी, वह अब मोम की तरह पिघल गई। बोली, “जो हा, चलती हूँ। भाई साहब विशेषांक की कहानियों का सम्पादन करने को सहमत हैं।”

मैं हतप्रभ-विमूढ़; जैसे था ही नहीं। रूपा उठी और मेरी ओर देखकर बोली, “कहानियाँ लेकर फिर आऊंगी।”

वे दोनों चले गए। जाते वक्त रूपा सदा की तरह मुस्करा रही थी। और खाना जोर-जोर से गुस्से में न जाने क्या-क्या कह रहा था। क्योंकि मैं तो तब था ही नहीं।

२६ सितम्बर, १९६१ तदनुसार ४ आश्विन, १८८३ शकाब्द। प्रातः दस बजे

एक महीने से रूपा को नहीं देखा। खाना के कमरे के जालीदार किवाड़ों से भाकने का लज्जाजनक काम भी मैंने किया, पर रूपा की भलक न पा सका। कई बार जी में उठा कि खाना से जाकर कहूँ—सँतान के बच्चे, बता तुझे रूप को कहा छिपाकर रखा है। मैं थाने में रिपोर्ट करूँगा।.....

मैं जानता हूँ कि खाना तब खूब हसेगा। बहेगा, ‘भाई साहब, चँठिए चाय पीकर आइए। धीमी पता करता हूँ कि रूप कहानियाँ लेकर भापके पास क्यों नहीं आई? ‘सीमान्त प्रभा’ का विशेषांक अक्टूबर में ही तो निकलता है और हा, भाई साहब भाप जानते हैं ‘सीमान्त प्रभा’ ने सब रिफाई तोड़ दिए हैं। तोस हजार छापता हूँ फिर भी माँग पूरी नहीं कर पाता। विशेषांक पचास हजार छाप रहा हूँ।...’

मैं जानता हूँ ये सब किस्से हैं। कागज सब बँक में जाता है पर मुझे







बढ़ती ही जा रही थी और मेरा मन पहले दिन की भेंट के वक्त से भी अधिक आशकाश्रीं से भरता जा रहा था। तभी टैक्सी आ गई। वे दोनों चले गए और बीच की दूरी सीमाधों को लाघ गई। तब से मैं बराबर सोच रहा हूँ। जितना सोचता हूँ सीमा उतनी ही भ्रमलंघनीय बनती जा रही है।

२७ सितम्बर, १९६१ तदनुसार ५ आश्विन, १८८३ शकाब्द, प्रातः

हरा बजे

सवेरे-सवेरे रूपा का पत्र आया।...

“कल राधा को मैंने आपकी छत पर देख लिया था। जिस रूपा की आपकी तलाश है वह भर चुकी है और शिमला में दफनाई जा चुकी है। वह धय मा न बनेगी, कभी न बनेगी। अब वह केवल उपयोग की वस्तु-मात्र है।

“कपाकार! तुम मेरे मजार पर भासू बहा सकते हो। मुझे मुक्ति नहीं दे सकते। कहते हैं, चिड़िया सांप से बहुत डरती है पर उसके नेत्रों का मादक भावपूर्ण उसे सीधे उसके मुँह में खींच ले जाता है।... जानते हो खन्ना ने मुझे हीरे की एक भंगूठी दी है। मेरा जेठन भी मरवा दिया है। सुनो, मैं धय पीने भी लगी हूँ।...”

कैसी निकटिम्न तटस्थता, कैसी योग-साधना। मेरे वक्ष में जैसे किसी-ने छुरी मार दी हो। जैसे मस्तक पर शिलाखड दे मारा हो। आबरण के नीचे यह कैसी दुनिया है। कैसी सावधानी से असत्य की इस सुनहरी और मोहक पोशाक के नीचे हमने अपनी कुरूपता को ढक रखा है जैसे संतार में जो कुछ भी हो रहा है इस वीमलता को ढकने-छिपाने के लिए ही हो रहा है। जैसे ढकना-छिपाना ही सहज-सरल है, शेष सब मिथ्या।

बस, मेरे हाथ ऐंठने लगे, दृष्टि ऐंठने लगी, मस्तिष्क ऐंठने लगा।

इस बजे रात

सब कुछ भूलने के प्रयत्न में खोया-झोया-सा बैठा था कि एक परिचित स्वर सुना—“मैं आ सकती हूँ ?”



जिन कहानियाँ इन्हीं सूत्रों पर रीझी हैं—रूपा है। हठात् उठ गया। यह क्या क्या वाली रूपा है? विह्वल परिचित हाव-भाव, न लज्जा, न मुहुर्चाई मुद्रा। यह जो कोई अपरिचित है, नितास्त अपरिचित। बस, सकलकाई नश्यो में रूपा ही रहा। अपने समय में रूपा ठीक मेरे मानने की दुर्गा पर बैठ गई थी। बोली, “पत्र मिल गया था?”

मैंने अपने को संभावने हुए किसी तरह कहा, “हां।”

बोली, “कहानी लिगी?”

विमुग्ध-सा मैं बोला, “कैसी कहानी?”

वह मुस्कराई, “क्यों, मेरे बारे में? संसार-भर को तुम अपनी कहानियों में निहित करते हो, मुझे नहीं करोगे? काश, कि मैं लिख पाती, तो परती कांप उठती। अच्छा, मैं प्रयत्न करूँ तो क्या ठीक कर दोगे?”

मैं पागल-सा बोला, “रूप!”

वह एकाएक विवर्ण हो आई। कहा, “रूप, मत कहो। उसने आत्म-हत्या कर ली। उसके भीतर जो औरत थी वह कभी की मर चुकी।...”

मैं जैसे चीख पड़ूँगा। पर अपने को रोका और शान्त भाव से कहा, “रूप, तुम चली जाओ।”

रूपा एकाएक पलट गई। हंसी, “जाऊंगी तो हूँ ही, नहीं तो खन्ना खा जाएगा। पर ये कहानियाँ लाई हूँ। इन्हें देख नहीं देंगे?”

और उसने एक बड़ा-सा पकेट मेरी गोद में फेंक दिया। मैं आखें फाड़ें उसकी ओर देखे ही जा रहा था—पाउडर की मोटी तह के नीचे निर्लज्जता के काले छल्लों को, कि वह फिर बोली, “अब तो उरने की कोई बात नहीं रही। सचमुच ही वस्तु माघ्र रह गई हूँ। आप भी वस्तु ही हैं और मानेंगे कि वस्तु की सार्थकता उसके उपयोग में है। आप कलाकार हैं। आप मेरी कहानियाँ ठीक करते रहिए मुझपर कहानियाँ लिखते रहिए। मैं मादा हूँ; मैं आपका...”

अपने को रोकने में असमर्थ मैं चीख उठा था, “निकल जाओ, अभी निकल जाओ।”



सच कहता हूँ, रुपा तब उतने ही जोर से हँसी थी, “सत्य से भ्रादमी इमों तरह करता है। पर करता यही है। जा रही हूँ। कहानियाँ छोड़ जा रही हूँ। जानती हूँ, देलकर सीटा देंगे। और हाँ, मुझपर कहानी लिख चुको तो दिखाना अवश्य।”

और वह चली गई। जाते-जाते एकाएक दृष्टि मिल गई थी। सच-सच कहूँ। उसके नयनों के कोने भीग घाए थे। वह जी-जान से उमड़ते घाँसुओं की छिपाने का प्रयत्न कर रही थी। और घनीभूत पीड़ा कुण्डली मार-मारकर मुझे जकड़ रही थी और एक नया सत्य मेरी आँखों के आकाश में उभरता आ रहा था।...

तो भ्रादमी 'मुन्दर' को भी छिपा लेता है।...



## आकाश की छाया में

---

आनन्द उन दिनों बहुत परेशान था। बोर्ड के स्कूल में पांच अध्यापिकाओं की आवश्यकता थी और एक हजार प्रार्थनापत्र आ चुके थे। आना अभी बन्द नहीं हुआ था और जैसी कि अभावग्रस्त देशों की परिपाटी है—बहुत-से सिफारिशी पत्र भी उनके साथ-साथ आ रहे थे।

उन पत्रों के लिखने या लिखानेवालों में मन्त्री, सचिव, बड़े-बड़े सरकारी अफसर, जन-प्रतिनिधि, हमारे प्रतिष्ठित व्यक्ति, सभी थे। उनमें अपरिचित भी थे और परिचित भी; ऐसे परिचित कि एक वन्धु ने एक दिन रात को बारह बजे टेलीफोन किया, “हलो, हलो, आनन्द !”

अंधता हुआ आनन्द बोला, “कौन है ?”

“कौन है, अच्छा, पहचानते भी नहीं ? अरे, अभी से यह हाल है ! गुल्ली-डंडा किसके साथ खेलते थे, लड़ते किससे थे, कुट्टी किससे करते थे...?”

अब आनन्द है कि खीझ रहे हैं, सोच रहे हैं।

“हलो, हलो, सो गए ? अरे मैं हूँ मदन, मदन टोपा।”

“मदन, ओह मदन, तुम ! रात को बारह बजे कहां से बोल रहे हो,  
”

“बोलूंगा क्या जहन्नुम से ! अरे, तुम्हारे ही शहर में हूँ।”



"यानी यही। नहीं-नहीं, तूम झूठ बोल रहे हो।"

"यानी हम झूठे भी हैं। भलेमानस, पांच वर्ष से यही हूँ। मेहता एण्ड पूरी में।"

"कमात करते हो, यार, पांच वर्ष से हो और पता तक नहीं दिया।"

मदन साहब खूब हँसे। कुछ इधर-उधर की बातें हुईं। फिर बोले, "अरे भाई, सुना है, तुम्हारे बोंड के स्कूल में कुछ भ्रष्टाचार ए ग्वी जा रही हैं।"

मानन्द का भाषा ठनका, बोला, "अरे हा, वह तो सतता ही रहता है।"

"तो हमें भी बला दो न! मेरी छोटी साली है, नाम है कुसुम।"

"तो यह बात है! साली की चिन्ता है!"

"चिन्ता पूरी है, यार, बड़ें डिक्कन हैं। इसीलिए कष्ट दिया।"

"कष्ट तो क्या है, पर..."

"तो सब मैं निश्चिन्त हूँ, तूम जानो तुम्हारा काम जाने जाने।"

यह नियम से हर रोज़ टेलीफोन एक बार तो घाड़ी जाता है। दो-तीन बार स्वयं कृपा कर गए हैं। कुसुम भी दर्शन दे गई है। एक मन्त्री के निजी सचिव ने केवल उसके लिए ही मानन्द को चाय पर बुलाने की कृपा की है। प्रयाग से उसके मामा के साले का पत्र भी आया है।

और पचाही तो बात ही क्या है। रजिया, राजरानी, पुष्पा, नीला, रोज़ और ऐसी ही अनेकानेक नारियों का इतिहास मानन्द को बार-बार सुनना पड़ा है। रजिया भारतवर्ष जिस पद पर है वहां बेजब कम है। राज-रानी के विवाह-योग्य दोनड़कियाँ हैं। रोज़ पति के पास आना चाहती है। नीला एम० ए० पास है। पुष्पा के पति अन्धे पद पर हैं, बार-बार पाने हैं, पर सच है कि पुरा ही नहीं होता। वह शीघ्र मानन्द के अष्ट्रे-भामे परिचित है, लेकिन पचाही तो मानन्द के एक परम मित्र की अनेक है और वह परम मित्र एक प्रसिद्ध पत्रकार है...

बेबाग मानन्द। उसे ऐसा लगता है कि वह इस मूछान में हूँ







गए। वह अपने भाई को इंजीनियरिंग कॉलेज में भेजना चाहते थे। उसीके लिए मिहारिशी पत्र लिखवाकर लाए थे। मार्ग में आनन्द की धन्यवाद देने रुक गए। उन्हें पूरी धापा है कि जैसे अब तक किया, वैसे ही यह धाम भी कुमुम की मदद करेंगे। कुमुम स्वयं भी आई। इसी तरह पुण्या, मीना, रीश, राजरानी, रजिया आदि या तो स्वयं आई या उनके टेलीफोन आएं या प्रतिभावक आए; पर सरला है कि स्वयं तो क्या धानी, किसीने उनकी ओर से धन्यवाद के दो-एक शब्द तक न भेजे।

कौन है यह सरला !

आनन्द ने मुलाकान के दिन ही उसे देखा। देखा था २२ गया। न रंग, न रंग, न प्रसाधन, पर फिर भी जैसे मगूँचे कमरे में उसकी छाया भर उठी है। प्रत्येक प्रश्न को उसने ध्यान से गुना घोर विनम्रता से अपने उगार दिए। वे उगार न किमी पुस्तक में लिखे थे, न किसीमें छुछकर रहे गए थे। पत्तर की गहराई से निकले मदे-मुले छाशों में जैसे प्रत्यक्ष स्पर्श उपभोग गए। इसलिए जब पचास में से बाँध का चुनाव हुआ, तो सरला उनमें नहीं। आनन्द ने सबसे पहले उसीका नाम चुना था, पर अब मियाँ के वचन और प्रादियों के बेहरे उनके स्मृति-पटल पर उभरने लगे, सब उगले पाया, सरला का नाम बड़ी मही रह गया है। बहू बरा बने। और, बहू भी बहू, उसके दूसरे माथी भी उगले सहमत है। उन्होंने कहा, "सरला की दोस्ती में कोई गलती नहीं, पर हमें जैसी व्यवस्था बाँटनी, वैसी बनानी है। वह महीरी है, पर माय ही बहुत महीरी भी है। दोस्त है पर उसका व्यवहार जानेमाना है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके व्यवहार में बड़ी होश है, जो उसे लुप्तने मही देती। ऐसी व्यवस्था के हाथ में बन्धनों को मोड़ना अपने से भेजना है।"

एक संवत्सर दिनेश में आनन्द की बड़ी चाल दिखी, फिर भी उस रात बहू भी न बाधा। बहुत देर तक देरी-बाँध बाँधे रहे। सभी दरिदरों के प्रतिभावक उनके व्यवहार हुए थे। उन्होंने सभी से 'आनन्द के हाथ







अपने ऊपर हावी होने दिया ! क्यों...क्यों...!

‘और जब उसने अभिमान किया है तो भुगुं ! मुझे क्यों परेशान करती है !’

धीरे भानन्द ने फिर नेत्र मूंदकर सरला से मुक्ति पानी चाही, पर सरला ने उसे पकड़ा कहाँ या जो मुक्ति मिलती ! वह तो स्वयं उसीकी अवचेतना थी जो उससे छन्न कर रही थी। इसलिये वह रात-भर मुका-छिपी का संत मेलता रहा। सवेरे उठा तो भग-भग दर्द कर रहा था। उसने किसीसे कुछ नहीं कहा। चुपचाप घूमने के लिए निकल पड़ा। कुछ देर चलने के बाद उसने अपने-आपको वहाँ पाया जहाँ एक और पंचमंजरी झालीदान इमारतें लड़ी थीं और दूसरी ओर, ठीक उनके पीछे वे गन्दे और बदबूदार भस्त्रवत थे, जिनमें माजकम घोड़ों के स्थान पर सभ्य इस्तान रहते थे।

देखकर भानन्द का मन भर आया। लोग उसी गन्दी और पानी से भरी सड़क पर सो रहे थे। कुछ छाट पर थे, कुछ टेसो पर। एक बुढ़िया अपने जैसी ही एक भारामकुरसी पर सोने का नाटक कर रही थी। कुछ युवक मूखी जमीन पर एक-दूसरे में उलझे पड़े थे। न बिछावन, न झोड़ना, शरीर पर भी दूसरा वस्त्र नहीं। पास में ही गाय-भेड़ और घोड़े पिछले दिन की मकान उतार रहे थे। उनसे बचना हुआ वह एक भस्त्रवत के सामने आ खड़ा हुआ। यही सरला का पता था...

सामने देखा—बिवाड झुले हैं और अन्दर का सब कुछ स्पष्ट दिखाई दे रहा है। कोई कमरा नहीं, परदा तक नहीं; पर जो है उममे नियम है। सामान संक्षिप्त है, पर व्यवस्थित है। बीच में एक छाट बिछी है, जिसपर एक पुरप सेटा है। गायद पति है। उमीके पास फर्श पर सरला बैठी है। उसका एक हाथ पति के बगल पर है, दूसरा एक तिनू की पीठ पर जो अपने तीन भाई-बहनों के साथ माँ के पाम घरती पर सेटा है।

भानन्द का मन और भीष आया। वह खोया-खोया-सा भाने बढ़ा, सभी उसे लपट जैसे वे लोग बातें कर रहे हैं। वह ठिठककर पीछे हट गया।



उधार लिया था।' वे समझ नहीं पा रहे थे कि कैसे उसका बदला चुकाया जा सकेगा। पद्मा तो भावावेश में ऐसी हो रही थी जैसे अब रोई, तब रोई। और कुसुम सचमुच रो पड़ी। आनन्द भी कम भावुक नहीं है। उसे भी कण्ठावरोध हो आया। आधी रात इसी झमेले में बीत गई तो उसने सोने की चेष्टा की, पर तभी उसे लगा जैसे उसके हृदय में टीस उठ रही है। 'नया कारण हो सकता है?' उसने सोचा।

उत्तर मिला, 'तुमने जो चुनाव किया है वह योग्यता के आधार पर नहीं किया है।'

'वह तो सदा ही ऐसा होता है।' और उसने करवट बदलकर आंखें मींच लीं, पर उस अन्धकार में तो सरला की मूर्ति और भी स्पष्ट हो उठी। फिर तो ज्यों-ज्यों वह आंखों के द्वार और जोर से वन्द करने का प्रयत्न करता, त्यों-त्यों सरला का रंग और भी निखरता चला आता। कुसुम, पद्मा, रोज़, नीला, रजिया सब उसकी छाया में ऐसे ही खो जातीं जैसे सूर्य की आभा में तारागण छिप जाते हैं। तब घबराकर उसने आंखें खोल दीं। उसे लगा जैसे उसने कोई पाप किया है, जैसे उसने किसी निर्दोष की हत्या कर डाली है... वह फुसफुसाया—'ऐसा तो कभी नहीं होता! मित्रों की बात तो माननी ही पड़ती है। सभी मानते हैं। बच्चे को स्कूल में दाखिल कराना हो, मकान किराये पर लेना हो, पुस्तक कोर्स में लगवानी हो, मुकदमे में न्याय करवाना हो, यहां तक कि किसी प्रमाण-पत्र पर हस्ताक्षर करवाने हों तो यह सब मित्रों की सिफारिश से ही होता है। आखिर यह मेल-जोल, ये मित्र हैं किस दिन के लिए...!'

'पर यह सब बुरा है।'

'जिस काम को सब करते हैं, वह बुरा नहीं होता।'

'लेकिन सरला ने नहीं किया...'

'हां, सरला ने नहीं किया। क्यों नहीं किया? वह एक बार भी मेरे पास आती तो क्या उसे नौकरी न मिलती! वह कितनी योग्य है, कितनी-सौम्य! ...लेकिन वह आई क्यों नहीं! क्यों उसने अभिमान को



अपने ऊपर हावी होने दिया ! क्यों...क्यों...!

‘घोरजब उसने अभिमान किया है तो भुगते ! मुझे क्यों परेशान करती है !’

श्रीर भानन्द ने फिर नेत्र मूंदकर सरला से मुक्ति पानी चाही, पर सरला ने उसे पकड़ा कहा था जो मुक्ति मिलती ! वह तो स्वयं उसीकी अवचेतना थी जो उससे छल कर रही थी । इसलिए वह रात-भर लुका-छिपी का खेल खेलता रहा । सबेरे उठा तो घग-भंग दर्द कर रहा था । उसने किसीसे कुछ नहीं कहा । चूपचाप घूमने के लिए निकल पड़ा । कुछ देर चलने के बाद उसने अपने-भापको बहा पाया जहाँ एक और पञ्चमंजारी मालीशान इमारतें खड़ी थी और दूसरी ओर, ठीक उनके पीछे वे गन्दे और बदबूदार भस्त्रबल थे, जिनमें धाजकत धाँड़ों के स्थान पर सम्य हन्सान रहते थे ।

देखकर भानन्द का मन भर आया । लोग उसी गन्दी और पानी से भरी सड़क पर सो रहे थे । कुछ साट पर थे, कुछ ठेसों पर । एक बुढ़िया अपने जैसी ही एक आरामकुरसी पर सोने का नाटक कर रही थी । कुछ युवक सूखी जमीन पर एक-दूसरे में उलझे पड़े थे । न बिछावन, न झोडना, शरीर पर भी दूसरा बस्त्र नहीं । पास में ही गाय-भैंस और घोड़े पिछले दिन की थकान उतार रहे थे । उनसे बचता हुआ वह एक भस्त्रबल के सामने भा खड़ा हुआ । यही सरला का पता था...

सामने देखा—किवाड खुले हैं और अन्दर का सब कुछ स्पष्ट दिखाई दे रहा है । कोई कमरा नहीं, परदा तक नहीं; पर जो है उसमें नियम है । सामान सशिष्ट है, पर व्यवस्थित है । बीच में एक साट बिछी है, जिसपर एक पुरुष लेटा है । शायद पति है । उसीके पास फर्श पर सरला बैठी है । उसका एक हाथ पति के वक्ष पर है, दूसरा एक जिरू की पीठ पर जो अपने तीन भाई-यहनों के साथ माँ के पास घरती पर लेटा है ।

भानन्द का मन और भीग आया । वह खोया-खोया-सा आगे बढ़ा, तभी उसे लगा जैसे वे लोग बातें कर रहे हैं । वह ठिठककर पीछे हट गया ।



एक क्षण बाद पुरुष का निराशा से कांपता हुआ स्वर उसके कानों में पड़ा :

“तो यह स्थान भी नहीं मिला ?”

सरला बोली, “नहीं, नहीं मिला। आशा भी नहीं है।”

पुरुष ने जैसे पूरी बात नहीं सुनी, कहा, “मैंने पहले ही कहा था, पर तुम नुनो तब न ! बिना सिफारिश क्या कहीं कुछ होता है ?”

सरला बोली, “जानती हूँ, पर हमारा ऐसा कौन परिचित है जिसका प्रभाव उनपर पड़ सकता ! अब तो एक ही काम हो सकता है।”

पुरुष ने उठते हुए पूछा, “कौन-सा काम ?”

इस बार आनन्द ने दृष्टि चुराकर फिर भीतर भांका। देखा, पुरुष के मुख पर प्रभु की कृपा बरस रही है, नेत्र ऊपर को उठे हैं। वह कांप उठा—ओह, यह तो नेत्रहीन है...

पुरुष फिर बोला, “तुम क्या करने को कहती हो ?”

सरला दो क्षण चुपचाप बैठी रही। तेजी से बेटे की पीठ पर हाथ फेरती रही। उत्तर न पाकर पुरुष ने अपने हाथ से सरला का मुंह टटोलना शुरू किया, टटोलता रहा, फिर फुसफुसाकर कहा, “कहो, क्या करने को कहती हो, मैं बुरा न मानूंगा।”

सरला के गले में बात रुकी थी। सहसा पति के मुंह की ओर मुंह उठाकर वह बोली, “कहती थी अब चिट्ठी से काम न चलेगा।”

“तो ?”

...

“बोलो सरला, बोलो !”

“मुझे शरीर का सौदा करने की आज्ञा दो। बोलो दोगे...?”

निमिष-मात्र में यह भूकम्प जैसा स्वर आनन्द के कानों से होकर ठेक में व्याप्त हो गया और जब टूटे हुए ग्रह की तरह वह वहां से भागा, गन्दे पानी के छींटों से विशाल अट्टालिकाओं की दीवारें गन्दी हो गईं, धरती पर सोए हुए स्त्री-पुरुष चीखकर उठ बैठे।



## नाग-फांस

मुशील की मां अबसर कहा करती थी और अबसर बया, भय तो कहने के लिए उसके पास एकमात्र यही कहानी दीप रह गई थी। लम्बी सांस खींचकर, गवं और वेदना-भरे स्वर में वह कहती, 'भगवान की कृपा से उसने चौदह पुत्रों को जन्म दिया था।'

सुननेवाले की आँखों में कौनूहल साकार हो उठता। कोई बाचाल पूछ बैठती, "चौदह पुत्र ! पर माँजी, भय तो केवल दो हैं।"

"हाँ, बेटी ! देखने के लिए ये ही दो हैं। बस मेरे चार बेटे दिसावर रहते हैं।"

"अच्छा, कमाने के लिए गए हैं ?"

"हाँ, कमाने ही होंगे।"

"क्यों, कुछ भेजते नहीं ?"

"भेजना ! उन्हें तो जाकर इपर देखा भी नहीं !"

"हाय रे ! कैसे बेटे हैं", वह बाचाल नारी कांप उठती, "पर माँजी, मुझे उनका पता तो होगा ?"

मुशील की माँ उसी सहस्र वेदना-भरे स्वर में बोलती, "पता बड़ाया ही नहीं तो कैसे जान सकती हूँ। वे चारों तो ऐसे गए कि जैसे ये ही नहीं।"

"शाय ?"



“राम को प्यारे हुए ।”

“ओह...!”

“गया बनाऊं, देटी । ये दो बने हैं । कुशल का स्वभाव भी ऐसा ही था—कई बार भागने को हुआ । पर उसपर मैंने बड़ी मित्तें मानीं, जात बोली, चढ़ावे चढ़ाए तब कहीं जाकर देवी की कृपा से रुका है ।”

इसपर प्रायः सभी नारियां उसे एक ही सलाह देतीं, “कुशल का विवाह कर दो मांजी । विवाह का बन्धन आदमी को बड़ा प्यारा लगता है । आजकल देर से विवाह करने की जो रीति चल पड़ी है उस कारण भी सत्ता हाथ से निकल जाती है ।”

सुशील की मां ने भी यही बात सोच रखी थी । उसके चारों बेटे सगाई कराने से पहले ही भाग गए थे । इसलिए कुशल की सगाई के लिए धूमधाम शुरू हुई । और एक दिन धूप-सी गोरी लड़की देखकर उसे तिलक चढ़ा दिया गया । फिर लगन आया और विवाह की तिथि निश्चित हो गई । कुशल ने एक बार भी आपत्ति नहीं की बल्कि सब काम प्रसन्नचित्त करता रहा । सुशील की मां को त्रिलोक का राज मिला । उसने सुशील के पिता से कहा, “यह दिन बड़े पुण्य से देखने को मिला है । मैं मन की निकालकर रहूंगी ।”

लाला चन्द्रसेन निम्न मध्यवर्ग के व्यक्ति थे । यही वर्ग अक्सर महा-पुरुषों को जन्म देता है । यही वर्ग बड़ी-बड़ी आशाओं और आकांक्षाओं को लेकर जन्म लेता है, परन्तु साधन के अभाव में घुटी हुई तमन्नाओं का मज्जार बनकर रह जाता है । यही है संघर्षों की क्रीड़ाभूमि और यहीं पर आदमी समझ से सम्पर्क स्थापित करता है । लाला चन्द्रसेन भी समझदार थे और इसी समझदारी को आगे बढ़ाने के लिए उनके पुत्रों ने घर की संकुचित दीवारें तोड़कर खुले विश्व में आश्रय लिया था । पुत्रों के जाने का दर्द उन्हें भी था, पर पुरुष थे, पिता थे । पत्नी की बात सुनकर वे हंसे, “मैं कब मना करता हूँ ।”

सच तो यह है उनके भीतर भी आकांक्षाएं आग्रह कर रही थीं । पहला



विवाह है, ऐसा हो जिसे सब याद रखें। इसलिए उन्होंने घड़िया पत्रे की बाजे का आहें दिया। भोज की व्यवस्था देख की हासत को देखने हुए सीमित थी, परन्तु जितनी भी उससे बड़े-बड़े धनियो की ईर्ष्या हो सकती थी। मोठी सत्तरी में बड़ी-बड़ी घाट मिठाइयाँ। पूरे पाव-भर तोन की नयकीन सत्तरी। हालडा के युग में भी उन्होंने गांव-गांव घूमकर घी इकट्ठा किया था। वे कहते, "या तो करो नहीं। करो तो ऐसा करो कि याद हो घानी रहे।"

भोज का दिन आया। सब कुछ तैयार था। केवल राग बनने से धीरे कधीरियाँ उतरनी थीं। मुह्र घबेरे से ही हलवाईयों ने धीरे मचाया। अन्दर से धीरे भी बेग से हल्की चढ़ाने का कोलाहल उठा। लाला जी ने आकर कहा, "धरे भई! क्या देर है? मसाला निकालो धीरे सबको राग काटने पर बैठा दो।"

उतगे ही बेग से मुगील की भां बीली, "अजी कुशल को भेजो, हल्दी चढ़ानी है।"

"घो हो भाई, कितनी देर है?"

"देर कुशल की है। उसे भेजो, बस।"

'कुशल कहाँ है?' 'कुशल यहाँ था', 'कुशल वहाँ होया' क्षण-भर में एक धीरे गपन-मेदी कोलाहल उठा। ऐसा कि हल्की धीरे हलवाई की आवाज उसमें डूबकर रह गई। उसीमें डूब गया कुशल। बहुत देर बाद पता लग पाया कि वह पिछली रात ही कहीं चला गया है। उसके बिस्तर पर एक पत्र पाया गया था। पढ़ने से पूर्व ही भा समझ गई कि कुशल भी भाइयों की राह का राही बना। वह रोई नहीं, एक सासू भी नहीं आया भालों में। लोनों ने कहा, "दूँदो।"

लाला चन्द्रसेन धीरे से बोले, "अर्थ है।"

"क्यों?"

"जो रहना नहीं चाहता उसे रोकने की चेष्टा करना उसे धीरे खोना है।"



मुनकर मन माझिना हो जाए। वे जैसे धनने से थोपने लगे, "मैंने गलती की जो उसे बापना पाया। उससे कहा—बेटा ! तू भी जा, दुनिया को देगा, पढ़ाएगा। मेरा जो कपड़ा था यह मैंने यथार्थक दूना कर दिया। पाप-पोग मुझे सोनने-मसकने योग्य बना दिया।"

मुशील की मा ने यह सब सुना तो तड़प उठी; बोली, "मातिर बे तुम्हारे ही बेटे तो हैं।"

"मेरे।" ने हँसे, "मेरा तो मैं भी नहीं हूँ। वे क्या होते।"

बहाने आगे बढ़ी और मांशुओं की घवाय गनि में उसका अन्त हुआ। अन्त हुआ, यह कहना गलत है। अन्तिम छोर की तरफ़ उनका सबसे छोटा बेटा मुशील अभी पैदा था। पन्द्रह वर्ष का वह सुन्दर बालक मेव की तरह लाल और फूल की तरह गिला हुआ था। उसकी हंसी में सुगंध थी, पर बड़े भाई के तिलक के दिन उसे जो ज्वर चढ़ा था वह उतरने से बराबर इंकार कर रहा था। विवाह में लगे हुए परिवार में उसे कोई बहुत महत्व नहीं दिया गया पर अब जब हल्दी और हलवाई की बात फैलकर मिट गई तो मां ने मुशील की पट्टी का सहाया लिया। देखा—सन्ध्या होते-होते उसका सेव-सा लाल मुख अंगारे-सा दहक उठा है। आखें मुंदी जाती हैं।

तब पछाड़ खाकर मां ने डाक्टर का दामन पकड़ा, "डाक्टर, मेरा सब कुछ ले लो पर इसे बचा दो।"

सान्त्वना-भरे स्वर में डाक्टर बोला, "घबराइए नहीं ! बुखार है। वक्त पर उतरेगा।"

"उतर जाएगा ?" पागल-सी मां ने पूछा।

"हां, हां।"

"कब ?"

"यही सात-आठ दिन में।"

लेकिन आठ क्या, अठ्ठाईस दिन बीत जाने पर भी बुखार ने जाने का नाम नहीं लिया। एक बार बीच में लगा-सा था कि बुखार टूट चला है पर



तीसरे दिन ही उसने दूने बेग से आक्रमण कर दिया। माँ रोने-रोते सज़ा-होन-सी हो गई। डाक्टर मनुष्य था, उसने माँ की कठिना को समझा। बोला, “माँ ! यह बुखार इकट्ठे-इकट्ठे दिन तक चलता रह सकता है। उसकी दवा कुछ नहीं होती केवल रोगी की देखभाल से यह ठीक होता है।”

माँ ने कहा, “आप जैसे कहने हैं वैसे ही मैं करती हूँ।”

“ठीक है। अभी धीरे-धीरे जाइए। आक्रमण में बुखार टूटने ही वाला है। प्रसन्न रहिए और रोगी को प्रसन्न रखाए, जानता हूँ यह कठिन है, पर यह भी जानता हूँ कि बेड़े के लिए आप सब कुछ कर सकती हैं। चार-पाँच दिन की बात है।”

डाक्टर ने ठीक कहा था। पाँचवें दिन बुखार टूट गया। गुनील ज्वरना गरीब से स्वस्थ था, मन भी उसका उतना ही दुःख था। रंग लौटते देर न लगी। माँ का मन गिल-गिल आया। पिता की चिन्ता भी कम हुई। गुनील ने बीमारी में ही पिता से प्रतिज्ञा करवा ली थी कि स्वस्थ हो जाने पर उसे कालेज भेजेंगे। सो अच्छा होने-होने एक दिन उसने कहा, “पिता जी, कालेज गुमने को एक सप्ताह रह गया है, मेरी फीस भेज दो न।”

पिता ने जवाब दिया, “कल सहर जाकर मैं सब ठीक कर आऊँगा।”

तब माँ ने धीरे से इतना ही कहा, “बेटा ! पहले ठीक तो हो जा, फिर जाने की बात सोचना।”

गुनील मुस्काराया, “माँ ! तुम सदा सँका करती रहती हो। मैं अब बिलकुल ठीक हूँ। देखना जबले सप्ताह कालेज आऊँगा। डाक्टर साहब से पूछ देना...”

डाक्टर ने हँसते हुए उसका अनुमोदन किया, “हाँ, हाँ, तुम बिलकुल ठीक होकर एक सप्ताह में सहर जा सकोगे, परन्तु भोजन का विशेष ध्यान रखना होगा।”

“जी, मैं वही खाता हूँ जो आप बताते हैं।”

“तुम सबकुछ एक आदर्श रोगी हो। सभी तो बार-बार रोग की



गलत कर रहे हो जाते हो। हा, जब मैं दुबले लिए टानिक लाऊंगा।”

मनुष्य का वजन बढ़े। फिर मुझसे बोले, “गुशील ! भगवान के लिए सब कुछ करो। क्योंकि मैं देख रहा हूँ। मगर, शरीर के जन्तु से ऐसी जिनगी होना नहीं है।”

जब मैं अपने पैरों पर खड़ा हो गया, सब ठीक पड़े। पर अगले दिन मना-बक बस हुआ कि मेरी दाढ़ी व दाढ़ी मुशील जाड़े से कापने लगा। ज्वर का आक्रमण हो चुका था; तापमान देखा तो १०५° ! चिन्तावर डाक्टर ने कहा देख मुझ पर भी क्या हो जाय तो, कहा, “इस बार टास्फाइट के साथ भोजिया भी है।”

आगत-मन्थीर पिता ने उत्तेजित होकर पूछा, “डाक्टर, आखिर यह क्या है ?”

डाक्टर ने पिता के कानों को धक्कापाया, “चिन्ता मत करो। सब कुछ ठीक होगा। दुःख इतना ही है कि मुशील महामय अगले सप्ताह कालेज न जा सकेंगे।”

लगभग संज्ञाहीन होने पर भी कालेज का नाम सुनते ही उसने आंखें खोल दीं। बोला, “मैं कालेज अवश्य जाऊंगा। पांच-छः दिन की देर हो जाएगी तो क्या है ? पिताजी ! आप मेरी फीस अवश्य भेज दीजिए।”

पिता ने कहा, “भेज दूंगा, पर तुम्हें अपना ध्यान रखना चाहिए।”

मुशील ने नहीं सुना। वह बोला, “पिताजी ! मैं भी डाक्टर बनूंगा।”

“अवश्य बनना।”

आगे उससे बोला नहीं गया।

दिन पर दिन वह दुर्बल होता चला गया। सूइयों से उसका शरीर बिध गया, कड़वी-तीखी दवाइयों से उसका मन चिड़चिड़ा हो आया, तो भी इक्कीस दिन के बाद जब उसका ज्वर उतरा तो उसने यही कहा, “दीवाली के बाद मैं कालेज जाऊंगा।”

“बेशक, तुम जा सकोगे,” डाक्टर ने कहा।



पिता गर्व से बोले, "परोक्षा-फल शानदार है तुम्हारा, प्रिंसिपल ने विद्वान्म दिलाया है कि तुम सब कमी पूरी कर लोगे ।"

डाक्टर ने विजयी खिल्लाही के स्वर में कहा, "विश्वाम से अदभुत शक्ति होती है सुनील । मैंने बड़े-बड़े रोगियों को विश्वास के बल पर अच्छे होते देखा है ।"

यही विश्वास सुशील की झाल बन गया । वह जिस तेजी से स्वास्थ्य-लाभ कर रहा था उसे देखे बिना विश्वास नहीं हो सकता । बस हर समय यही रट मगो रहती थी, "मैं कालेज जाऊंगा । मैं डाक्टर बनूंगा ।"

मा कहती, "डाक्टर बनकर तू कहां जाएगा ?"

"यही रहूंगा, मा ।"

"इसी कस्ये में ?"

"हां, मा । पास में बहुत गांव हैं । उनकी सेहत की देखभाल करना हमारा कर्तव्य है । उनकी सेहत ठीक न रहेगी तो देश की उन्नति कैसे होगी !"

मा सहमा कांपकर धीन उठती, "दिन की चिन्ता करने से पहले अपने को तो देख ।"

सुशील मुस्कराता, "मैं ही देना हूं, मा ।"

मा अचकचाती-बौकती, "बाखिर तुम ये बातें कहाँ से सीखते हो ?"

"तुमने ।"

"मुझसे ?"

"हां ! तुम मां हो । तुमने ही तो हमारा निर्माण किया है ।"

तब मा हृषं में फूँटती, बिन्ता में दुबलती । देर तक एकाग्र में बैठ-कर सोचती—'ये मेरे बेटे हैं, इनमें मेरा रक्तन है पर मुझे तो ये बातें भाती ही नहीं । फिर मुझसे ये कैसे सीखते हैं ? सीखते हैं तो मुझे छोड़कर क्यों चले जाते हैं ? क्या सुनील भी चला जाएगा...क्या सुनील भी...सुनील जो मेरी बाखिरी सन्तान है, मेरी बाखिरी धागा है...।'

बट कापी...मिहर-मिहर उठी...तभी बिम्बीने जैसे नहीं भीतर से



पुकारा—“सुशील मे एक सप्ताह है, पर सोचता नहीं, सोचता है...”

“हो, पर सोचता नहीं, सोचता है; पर सोचता ही नहीं हो पाता है—  
देख...बादलों... पतंगों को देख जाते क्या-क्या...”

उस रात वह देखता नहीं दिखता-क्यों देखनी रही। सबरे उठी तो  
देखा—सुशील चादर लाने बैठा है।

पुकारा, “सुशील !”

सुशील नहीं सोचा। मलक आकर उसने चादर के भीतर हाथ डाला,  
जैसे अंगार में छू गया हो। वह काँटकर पीछे हट गई और भरपूर स्वर में  
कहा, “सुशील...सुशील ! !”

सुशील चौककर क्षीण स्वर में बोला, “क्या है ?”

“कौता जी है बैठा ?”

“जरीर जन रहा है। छाती में दर्द है। रात नींद लगा था।”

“छाती में दर्द,” मा पागन-सी उसके पिता के पास दौड़ी, “देखिए तो  
सुशील को खूब बुखार चढ़ा है। छाती में दर्द है।”

जैसे वज्र गिरा हो ! पिता एकदम बोले, “क्या ?”

“बुखार !”

“बुखार ! बुखार किसको है ?”

मा ने किंचित् तेज होकर कहा, “जल्दी जाकर डाक्टर को बुलाओ !  
सुशील की छाती में दर्द है और बुखार भी तेज है।”

डाक्टर आया। खूब जाँच-पड़ताल के बाद उसने कहा, “निमूनिया  
है।”

“निमूनिया ! !”—पिता स्तब्ध रह गए।

“निमूनिया ?” माँ को जैसे विश्वास नहीं आया।

फिर कई क्षण कोई किसीसे नहीं बोला। आखिर डाक्टर ने शिकायत  
के स्वर में कहा, “मैं कहता हूँ, क्या आप इसका बिलकुल ध्यान नहीं रख  
सकते ? इसे सहीँ लगी है।”

रुंवे स्वर में माँ ने उत्तर दिया, “डाक्टर ! रात को बार-बार उठ-



कर मैं उसे बगड़ा थोड़ाती हूँ ।”

“दवा कोन देता है ?”

“मैं देती हूँ ।”

“ठीक समय पर ?”

“आप मुसीबत से पूछ लीजिए ।”

डाक्टर ने दोनों हाथ हवा में हिलाए; कहा, “कुछ समय में नहीं घाना । जैसे ही रोगी स्वास्थ्य-शाम करता है, रोग उसे फिर भा दबोचता है । अच्छा, मैं वेन्सीलीन की सूइया लगाता हूँ ।”

कई दिन तक डाक्टर हर चार घंटे के बाद सूइया लगाता रहा । उन दिनों बेहोश-भी मा ने न जाने कितनी निद्राहीन रातों बेटे के बिस्तर के पास बैठकर काटी । ऐसी देखभाल की कि सब घम-घश कर उठे । पड़ो-मियों ने कहा, “मा ऐमा न करेगी तो कोन करेगा और फिर वह मा, जिसके घंटे एक के बाद एक उसे छोड़कर चले गए हो ।”

“हा जी ! वह तो जान भी दे दे तो थोड़ी है उसके लिए ।”

“जान ही तो वह दे रही है ।”

“बेचारी ने पिछले जन्म में न जाने क्या पाप किए थे ?”

“पाप क्या जी, आजकल की तो मोलाद हो निराली है । कहते हैं, बेटा मा-बाप का नहीं होता, देश का होना है ।”

“हा जी ! यही बात है । भला कोई पूछे उनसे, तुम्हें पाल-पोसकर कितने बड़ा किया है, देश ने या मा ने ? तुम्हारे गू-मूत कितने उठाए हैं, देश ने या मा ने ?”

उनमें कुछ युवतिया भी थी । एक युवती सहर में रहकर पढ़ी थी; वह बोली “और तो मैं कुछ नहीं जानती, पर भादमी होता देश के लिए ही है ।”

जैसे यह युद्ध की चुनौती थी । फिर तो घण्टों क्या दिनों यही बर्बा घर-घर और गली-गली का विषय बनी रहो । यहाँ तक कि मुसीबत फिर अच्छा होने लगा, पर देश और भादमी के रिश्ते का कोई निर्णय नहीं हो



मका। आगिर डाक्टर ने एक दिन सुशील के पिता को बुलाकर कहा, "उम बार सुशील की देखभाल विशेष रूप से करनी होगी। यदि श्वर रोग ने श्वाभरण कर दिया तो..."

डाक्टर ने जान-बुझकर ताकत पुन नहीं किया। लाला चन्द्रमेन बोले, "जानता हूं डाक्टर, जानता हूं।"

"यही समय है जब रोग श्वाभरण करना है।"

"जी, हमने पूरी तैयारी कर ली है। श्वागी-श्वारी ने रात को जागने का प्रोशाम है, उमगी एक मेमरी बहन को भी बुला भेजा है।"

क्षण-भर डाक्टर ने मूल्य में दृष्टिमान करके कहा, "दो-चार दिन में भी रहना चाहंगा।"

"आप!"

"हां, मैं।"

करण स्वर में लाला चन्द्रमेन बोले, "डाक्टर! आपने क्या नहीं किया! आपकी कृपा ने ही सुशील बार-बार मौत के मुंह जाकर लौटा है। आप श्वर..."

डाक्टर ने टोक दिया, "मैं रोगी का अध्ययन करना चाहता हूं।"

"जी।"

"और वह भी कुछ दूर से।"

"आपका मतलब?"

"मतलब यह है कि मैं आपके कमरे में रहकर सुशील की देखभाल करूंगा; और हां! यह बात किसीने कहिए नहीं! मां से भी नहीं।"

लालाजी का सिर चकरा उठा पहले तो, पर गर्व भी कम नहीं हुआ।

२ आकर यह बात वह सुशील की मां से कहते-कहते तनिक ही बचे।

अ ५ डाक्टर कहते थे..." इतना कह जैसे उन्हें होश आया। चुप हो गए।

सुशील की मां बोली, "डाक्टर क्या कहते थे?"

"यही" उन्होंने कुछ याद करते हुए कहा, "कि मैं आज गांव जा रहा हूं। सुशील को लौटकर रात के समय देखूंगा।"



फिर करण स्वर में बोले, "कितना भला डाक्टर है।"

"भगवान का रूप है", मां ने गद्गद स्वर में कहा, "हमें तो वही जिला रहा है।"

उमने यह बात सच्चे मन से बही थी। दोनों पति-पत्नी तब देर तक भले आदमियों की खोज करते रहे। फिर दिन बीत गया। बके हुए जीवन को सहलाने के लिए रात आ पहुँची। भयंकर में दृष्टि नहीं है, पर शांति अवश्य है। उभी रात वातावरण में डाक्टर आए। मृगीन को पुनर्प्राप्ति दृष्टाया, दवा बजाई घोर लोट गए। परन्तु अपने घर नहीं, पाम के कमरे में। साता चन्द्रसेन वही रहे, मा भी वही थी, मृगीन को नींद आ गई। मा ने लम्प बुझा दिया, दीवा जलता रहा। उसका घुघरा पर शीतल प्रकाश तन-भन दोनों को सुखकारी था। कुछ देर में माया चन्द्रमेन उठे, बोले, "जब तुम सोने लगे तो मुझे पुकार लेना।"

घोर ने भी खिंचे गए। घीरे-घीरे चारों घोर शान्ति छा गई। मृगीन के पास बँधी मां की गलके भारी हुई घोर फिर मुक गई। पर डाक्टर की घाली में नींद नहीं थी। वे कभी कुर्सी पर बैठे रहने, कभी दहलते, कभी घीरे से गिटकी में से देख लेते। लावा भी उत्सुक उत्तेजित उन्हें देखने घोर पूछ बैठने, "डाक्टर! कोई बात देखो?"

डाक्टर मुस्कराया—"आप चिन्ता न करें।"

घोर फिर सप्राप्ता; बिभीके ललारने घोर चमने का शब्द; दूर वहीं तीरही की ह-हा, घोर फिर मीन; डाक्टर की धीमी पदचाप; फिर एका-एक बही कुर्सी की भी-भी। दीवार की पड़ी में दो बजा दिए। तभी सहना डाक्टर चौक उठे। उन्होंने घीरे में लावाजी को जगाया, "हां-हां, बोनिए नहीं! पदचाप मेरे पीछे गिटकी के पान बले आएं।"

"क्या है?"

"आ जाइए चुपचाप।"

दोनों ने हतप्रभ देखा—घुघने प्रकाश में एक मूर्ति घीरे-घीरे मृगीन की पाट के पान पहुँची है। उसने कई क्षण चुपचाप मृगीन के मुख को देखा,







अच्छा संबंध हो गया, पर उसके पति से मैं देर तक नहीं मिल सका। वह मरजार के किसी विभाग में एक बड़े अप्रमर थे। सबेरे कार में बैठकर जाते थे और घबेरा होने पर लौटते थे। दूर होने के कारण तब घंटे-घंटे का प्रबंध भी उन्होंने दफ्तर के पास ही कर लिया था।

पर एक दिन अचानक उनमें भेंट हो ही गई। रश्मि, धन्य और मैं बैठे चाय पी रहे थे कि वह आ गए। रश्मि सहसा हड़बड़ाकर उठी। यह सब एक क्षण से भी कम समय में हुआ, क्योंकि जब वह बोली तब उसका स्वर बिल्कुल अस्वाभाविक था। उसने कहा, "आ गए?"

"हां, कुछ जल्दी लौट आया।" कहकर उन्होंने एक उज्जी नजर तब-पर डाली, मुझपर झटक गए।

रश्मि बोली, "प्रदीप है।"

मुनकर सहसा उनके कंधे पर अनेक रंग आए और गए।

पर वह तुरन्त ही बोले, "तो आप हैं प्रदीप?"

और फिर दृढ़ता से आगे बढ़कर उन्होंने मेरा हाथ झम्झीड़-सा दाला, "तो आप प्रदीप हैं! मिलकर खुश हुआ, बहुत खुश! भाग्यशाली हो दोस्त! यही तो सरकारी मालगाड़ी के डिब्बे हैं। आप हैं कि पीते हैं।"

और मुझे कुछ भी कहने का अवसर न देकर वे बाहर जाने को मुझे। रश्मि ने कहा, "चाय नहीं पियोगे?"

"नहीं।"

"प्रदीप क्या कहेंगे? कहा जा रहे हो?"

"प्रदीप कलाकार हैं। वह हमारी दुनिया के इन छोटे-छोटे शिष्टाचारों की चिन्ता नहीं करेंगे।"

और वह चले गए। जैसे धुएं का एक बादल उमड़ा और एक घुटन छोड़कर चला गया। अच्छा नहीं लगा, पर रश्मि थी कि हूं पढ़ी, "गजे-टिठ भाकिमर है। अपना स्वभाव कैसे छोड़ें? अपनी करेंगे।"

कुछ देर बाद मैं भी चला आया और फिर कई दिन तक रश्मि से नहीं मिला। जान बूझकर टालता रहा, पर एक दिन वह अचानक दफ्तर



फिर नूना, फिर धीरे-धीरे कांपने लगीं से चारों ओर उतार दी। सुशील एक बार गाँगा, फिर पैरों को पेट में समेट लिया। छाया-मूर्ति पीछे हटी। मेज पर दवा की शीशी रखी थी, उसे उठाया और उसे निमननी में फेंक दिया।

निमननिमन-गा डाक्टर बोला, "देखा?"

नन्त्रसेन सड़के, "डाक्टर! यह तो सुशील की माँ है।"

"हाँ! आइए!"

"डाक्टर, मैं...मैं..."

"आइए।"

डाक्टर ने आगे बढ़कर नन्त्र भाव में कियाउ खोले और सुशील के कमरे में चले आए। छाया-मूर्ति ने सहसा मुड़कर देखा, उसके मुँह से एक चीख निकली—"आप...आप...!"

और वह तीव्र वेग में कांपती हुई पीछे हटी, हटती गई; कांपती गई और फिर लड़खड़ाकर गिर पड़ी। लाला नन्त्रसेन उधर दौड़े, इधर डाक्टर ने सबसे पहले खिड़की बन्द की। फिर सुशील को कपड़ा उढ़ाया। तब सुशील की माँ की ओर भुके। वह बेहोशी में बड़बड़ा रही थी—"सुशील अच्छा हो रहा है...वह कालेज जाएगा—डाक्टर बनेगा...और फिर नहीं लौटेगा...उसके भाई भी नहीं लौटे थे...नहीं, नहीं, वह शहर नहीं जा सकता...वह मुझे नहीं छोड़ सकता..."

डाक्टर ने सुना, पिता ने सुना, दोनों ने एक-दूसरे को देखा। पिता सिर से पैर तक सिहर उठे, मुँह से इतना ही निकला, "डाक्टर...!"

डाक्टर ने गम्भीर स्वर में कहा, "मुझे यही डर था।"

"माँ का स्नेह पुत्र का काल बना हुआ है डाक्टर।"

सहसा डाक्टर का स्वर कठोर हो उठा, उन्होंने कहा, "स्नेह नहीं, यत्न ही स्वार्थ है; जो प्रतिक्षण मनुष्यता की हत्या करता रहता है।"

बार कोई उत्तर नहीं दिया। माँ का स्वर निरन्तर रहा था, इतना कि मात्र फुसफुसाहट शेष रही थी और सुशील—शान्त, निर्द्वन्द्व।



## शरीर से परे

---

### प्रदीप

रश्मि मुझसे पहली बार कब मिली यह आज मुझे ठीक-ठीक याद नहीं। शायद वह नदी-किनारे किसी पिकनिक पार्टी में मिल गई थी। तब उसके साथ उसका छोटा बेटा था। मेरी ओर सवेत करते हुए रश्मि ने उससे कहा था—“देखो, वह प्रदीप है, जिनका मैं तुमसे जिक्र किया करती हूँ।”

यह बात मैंने चलाते-चलते सुन ली थी और तब मैंने उसे कुछ गौर से देखा था। प्रथम दृष्टि में उसे गुम्वार कहना भीतरी गदी के सौंदर्य का अपमान हो सकता है। हाँ, यदि किसीके पास दूसरी दृष्टि हो, तो वह निरुपम रूपयती थी। उसके पल्लव मोठों पर घोर काली घाँसों में एक गूसकान थी जो नितान्त स्वाभाविक थी—जैसे एक प्रेमिल ज्योति से उसका मुख सदा वेदीप्यमान रहता था। मुझे यह भी याद है कि तब उगने साड़ी पहन रखी थी और उसकी खाल-डाल में स्वाभाविक घल्हड़ता थी। परन्तु जब अपने स्थान से हट जाता था तब वह उसे बार-बार उठाकर, अतिशय आगदक नारी की तरह इधर-उधर नहीं देखती थी, बल्कि लापरवाही से उसे ऊपर फेंककर बातों में व्यस्त हो जाती थी।



## १५६ मेरी प्रिय कहानियाँ

फिर नमा, फिर धीरे-धीरे कांपने लगीं से चादर उतार दी। सुशील एक बार खांसा, फिर पैरों को पेट में समेट लिया। छाया-मूर्ति पीछे हटी। मेज पर दवा की बोतली रखी थी, उसे उठाया और उसे निलमची में फेंक दिया।

निपलिनिलि-ना डाक्टर बोला, "देगा?"

चन्द्रसेन तड़प, "डाक्टर! यह तो सुशील की मां है।"

"हां! ब्राह्मण!"

"डाक्टर, मैं...मैं..."

"ब्राह्मण।"

डाक्टर ने आगे बढ़कर सहज भाव से किवाट खोलने और सुशील के कमरे में चले आए। छाया-मूर्ति ने सहसा मुड़कर देखा, उसके मुंह से एक चीख निकली—“ब्राह्मण...ब्राह्मण...!”

और वह तीव्र वेग ने कांपती हुई पीछे हटी, हटती गई; कांपती गई और फिर लड़खड़ाकर गिर पड़ी। लाला चन्द्रसेन उधर दौड़े, इधर डाक्टर ने सबसे पहले खिड़की बन्द की। फिर सुशील को कपड़ा उड़ाया। तब सुशील की मां की ओर भुके। वह वेहोशी में वड़वड़ा रही थी—“सुशील अच्छा हो रहा है...वह कालेज जाएगा—डाक्टर बनेगा...और फिर नहीं सौटेगा...उसके भाई भी नहीं लौटे थे...नहीं, नहीं, वह शहर नहीं जा सकता...वह मुझे नहीं छोड़ सकता...।”

डाक्टर ने सुना, पिता ने सुना, दोनों ने एक-दूसरे को देखा। पिता सिर से पैर तक सिहर उठे, मुंह से इतना ही निकला, “डाक्टर...।”

डाक्टर ने गम्भीर स्वर में कहा, “मुझे यही डर था।”

“मां का स्नेह पुत्र का काल बना हुआ है डाक्टर।”

सहसा डाक्टर का स्वर कठोर हो उठा, उन्होंने कहा, “स्नेह नहीं, यह मनुष्य का स्वार्थ है; जो प्रतिक्षण मनुष्यता की हत्या करता रहता है।”

पिता ने इस बार कोई उत्तर नहीं दिया। मां का स्वर निरन्तर शिथिल हो रहा था, इतना कि मात्र फुसफुसाहट शेष रही थी और सशील सो रहा था—शान्त, निर्द्वन्द्व।



## शरीर से परे

---

### प्रदीप

रश्मि मुझमें पहली बार कब मिली यह आज मुझे ठीक-ठीक याद नहीं। शायद यह नदी-किनारे किसी विज्ञानिक पार्टी में मिल गई थी। तब उसके साथ उसका छोटा बेटा था। मेरी ओर संकेत करते हुए रश्मि ने उससे कहा था—“देखो, यह प्रदीप है, जिनका मैं तुमसे जिक्र किया करती हूँ।”

यह बात मैंने चलते-चलते सुन ली थी और तब मैंने उसे कुछ गौर से देखा था। प्रथम दृष्टि में उसे सुन्दर कहना बीसवीं सदी के सौंदर्य का भ्रम मान हो सकता है। हाँ, यदि किसीके पास दूसरी दृष्टि हो, तो वह निम्न-स्वैह रूपवती थी। उसके पतले मोठों पर और काली भालों में एक मुसकान थी जो नितान्त स्वाभाविक थी—जैसे एक प्रेमिल क्योति से उसका मुख सदा देदीप्यमान रहता था। मुझे यह भी याद है कि तब उसने साड़ी पहन रखी थी और उसकी चाल-ढाल में स्वाभाविक धवद्वता थी। पलना जब झपने स्थान से हट जाता था तब वह उसे बार-बार उठाकर, अतिशय जागरुक नारी की सरह इधर-उधर नहीं देखती थी, बल्कि सापरवाही से उसे ऊपर फेंककर बातों में व्यस्त हो जाती थी।



दूसरी बार रश्मि मुझे अचानक सड़क पर मिल गई। दूसरी बार मैं केवल आपके मुभीते के लिए कह रहा हूँ। वरना इन मुलाकातों के गणित के बारे में मैं बिलकुल सही होने का कतई दावा नहीं करता। वह सड़क-वाली मुलाकात काफी लम्बी हो गई थी। तब वह अकेली थी और मुझे भी कोई विशेष काम नहीं था। बातें नया-नया हुई; उसका व्योरा मेरे पास नहीं है, पर उस दिन ज्यादातर बोलने का काम उसीने किया था। मैं तो लगभग सारा समय उसके मुख को ही देखता रहा था। न जाने कौन-सी बात के बाद उसने कहा था, “मैं तुम्हें युग-युग से जानती हूँ।”

मैंने कहा, “मुझे तो याद नहीं पड़ता कि हम कभी मिले हों।”

वह बोली, “किसीको जानने के लिए क्या उससे मिलना जरूरी है?”

मैंने सहसा कुछ नहीं कहा, वह बोली, “बताओ न?”

मैंने उसे देखते हुए कहा, “नहीं, कोई जरूरी नहीं।”

तब वह हंस पड़ी थी और उसने कहा था, “तुम्हारी सब रचनाएं पढ़ चुकी हूँ और मैंने ऐसा महसूस किया है कि जैसे तुम्हारी कलम के साथ मेरा तादात्म्य भाव रहा है।”

“मैं भाग्यशाली हूँ,” मैंने मुस्कराकर कहा।

वह बोली, “शिष्टाचार की भाषा बड़ी कृत्रिम होती है और मैंने कहीं पढ़ा है कि कृत्रिम और कुरूप परस्पर समान हैं।”

इस चोट से मैं तिलमिला उठा था, पर फिर भी उसे पीकर मैंने कहा था, “तुम बहुत पढ़ती हो?”

“ऊँ हूँ। पढ़ने लायक बहुत कहां मिलता है। बहुत कुछ तो दाल पर के उफान की तरह का होता है।”

लेकिन उस दिन की एक खास बात जो मुझे याद है वह यह है कि बातों के बीच मैं अचानक वह हड़बड़ाकर बोली, “ओह, देर हो गई। वह राह देखेंगे।”

और फिर हंसती हुई वह जैसे आई थी वैसे ही चली गई। उसके बाद अक्सर मिलते रहे। मैं उसके घर भी गया। उसके बच्चों से मेरा



अच्छा संवध हो गया, पर उसके पत्रि से मैं देर तक नहीं मिल सका। वह सरकार के किसी विभाग में एक बड़े अफसर थे। सबरे कार में बैठकर जाते थे और अचोरा होने पर लौटते थे। दूर होने के कारण तब वर्गरह का प्रवन्ध भी उन्होंने दफ्तर के पास ही कर लिया था।

पर एक दिन अचानक उनसे भेंट हो ही गई। रश्मि, बच्चे और मैं बैठे चाय पी रहे थे कि वह आ गए। रश्मि सहसा हड़बड़ाकर उठी। वह सब एक क्षण से भी कम समय में हुआ, क्योंकि जब वह बोली तब उसका स्वर बिलकुल अस्वाभाविक था। उसने कहा, “आ गए?”

“हां, कुछ जल्दी लौट आया।” कहकर उन्होंने एक उड़ती नजर सव-पर डाली, मुझपर घटक गए।

रश्मि बोली, “प्रदीप हैं।”

सूनकर सहसा उनके केहरे पर अनेक रंग आए और गए।

पर वह तुरन्त ही बोले, “तो आप हैं प्रदीप?”

और फिर दृढ़ता से आगे बढ़कर उन्होंने मेरा हाथ भीमोड़-सा जाला, “तो आप प्रदीप हैं! मिलकर खुश हुआ, बहुत खुश! भाग्यशाली हो दोस्त! यहा तो सरकारी मालगाड़ी के टिके हैं। आप हैं कि जीते हैं।”

और मुझे कुछ भी कहने का अवसर न देकर वे बाहर जाने को मुड़े। रश्मि ने कहा, “चाय नहीं पिओगे?”

“नहीं।”

“प्रदीप क्या कहेंगे? कहा जा रहे हो?”

“प्रदीप कलाकार हैं। वह हमारी दुनिया के इन छोटे-छोटे सिप्ता-चारों की बिन्ता नहीं।”

और

एक बादल उमड़ा और एक घुटन-गा, पर रश्मि बो कि हंस पड़ी, “मने-जिसे छोड़ें? अपनी करें।”  
आया और फिर कई दिन तक रश्मि से रहा, पर एक दिन वह अचानक दफ्तर



*Handwritten signature*

1941

$$b_1 = \frac{1}{2} \left( \frac{1}{2} + \frac{1}{2} \right) = \frac{1}{2}$$

354, 100

“... 1941 年 12 月 7 日”

[illegible]

‘‘बोले, मैं तो जानती हूँ कि वह बुरा है, लेकिन मैं नहीं कर सकती।’’

मैंने कहा, "तब देना। वह बोली, "मरह मुझका रही थी, पर जैसे आज वह कुछ-कुछ मरन ही। मैंने कहा, "तो प्यार करने वाला है वही इस बात को मानता है।"

'ॐ, ॐ नमो भगवते ।'

‘मैं समझ रहा हूँ नहीं करता ।’

“यदि ध्यान के लिए उमरे कारण का ज्ञान जरूरी है ?”

मैंने धनराजकर कहा, "रसिम, ज्ञान जरूरी न हो, पर होता तो वह  
जुगल है।"

“होता है, पर क्या उसे जानना जरूरी है ? यह मैं तुमसे पूछती हूँ।”

"मन्त्रो इसका जवाब एकाएक नहीं सूझता ।"

“मिठा घबहरा होता है, पर जब तूम् कोई कहानी लिखोगे, तब इस प्रश्न का उत्तर तुम्हारी कलम की नोक पर ऐसे ही आ जाएगा जैसे सूर्योदय होते ही प्रकाश कट पड़ता है।”

बोली, "उठो, वहाँ घूम आएं।"

हों की ओर कुछ देर बाद दूर एकांत में नदी-किनारे  
रह गए। रात्रि और दिवस के उस संधिकाल में वह

य लगी। यह बातों में तन्मय थी और मुझसे सटकर बैठी हुई

। न जाने और कैसे मैंने उसके मुंह को अपने दोनों हाथों में पाया

तो मैंने चूग लिया। उस क्षण उसने तनिक भी प्रतिरोध नहीं



दिया पर जैसे ही मैंने उसे मुक्त किया वह द्रवित होकर बोली, "यह तुमने करा किया?"

"मैं स्वयं नहीं जानता।"

"नहीं, नहीं," उसने और भी विह्वल होकर कहा, "मुझे अपने से दूर मत करो।"

"क्या कहती हो?"

"कहती हूँ, अब क्या इज्जत रहेगी मेरी, तुम्हारी दृष्टि में?"

और वह तीव्र गति से कांपने लगी। उसका मुख विवर्ण हो आया। नेत्रों की ज्योति फीकी पड़ गई और उसने सहारे के लिए धरती पर जोर से हाथ दबाया। मैं इतना घबरा उठा कि न तो बिस्मा सका, न उसे छू सका। पर कुछ ही क्षण में वह शान्त हो गई और स्वाभाविक स्वर से बोली, "मैं तो सदा तुम्हारे साथ रहती हूँ। तुमने मुझे दूर क्यों समझा प्रदीप? मैं तुम्हें चाहती हूँ, शरीर को नहीं। शरीर तुम नहीं हो।"

जैसे सहस्र बिच्छुओं ने एक साथ काटा हो, मैंने चीखकर कहा, "रश्मि तुम इतनी रहस्यमयी हो?"

"कहा, प्रदीप? मैं मन्दिर में पूजा के प्रदीप कहा जलाती फिरती हूँ। मैं तुम्हें चाहती हूँ, केवल मुझे।"

"और अपने पति को नहीं?" मैं कुछ कठोर दृग्प्रवृत्ति चित्नाया।

"पति को चाहती हूँ। वह तो कर्तव्य है। उसकी मैंने प्रतिज्ञा ली है।"

"उस कर्तव्य में क्या प्रेम की शर्त नहीं है?"

"है, पर निस्सीम स्वार्थ ने उसे सीमित कर दिया है। प्रेम जब सीमा का बधन स्वीकार करता है तभी वह कर्तव्य बन जाता है। और फिर तुम क्या वही चाहते हो जो स्वामी को दे चुकी हूँ? देवता पर क्या निमित्त्य बढ़ाया जाता है?"

मैं कई क्षण चुप रहा। वह मुझे देखती रही। मैंने कहा, "तुम मेरे पास मत आया करो।"

"नाराज होकर कहने हो या प्रेम से?"



"तुम्हें तुमसे प्रेम करने का कोई हक नहीं है। तुम्हारे पति हैं और वह सब ईश्वर हैं ?"

"तुम्हें प्रेम का क्या है प्रदीप ?"

"क्या वह ईश्वर नहीं है ?"

"देह है।"

"फिर ?"

"फिर भी मैं उन्हें प्यार करती हूँ।"

"रक्षित !"

"मम करता हूँ। मैं उन्हें प्यार करती हूँ। बेशक वह ईश्वर करते हैं, क्योंकि उनमें स्वामित्व की भूरा है, पर प्रदीप, उनमें शरीर की भूख नहीं है। शरीर उनका है पर वह भूख नहीं है।"

"क्या करती हो ?"

"जो कुछ करती हूँ वह तुम समझते हो।"

मैंने पूछा, "तुम्हारे पति को पता लग जाए कि तुम यहां आती हो, तो क्या हो ?"

"पता क्या नहीं लगता ? वह ठोह में रहते हैं और जब पूछते हैं तब मैं छिपाती नहीं।"

"फिर ?"

"फिर क्या, युद्ध होता है। कई दिन वह खानान ही खाते। मैं भी नहीं आती, पर फिर सब ठीक हो जाता है।"

"ऐसा अक्सर होता है !"

"अक्सर।"

"फिर तुम आतीं क्यों हो ?"

"पता नहीं।"

"यह क्या मोह नहीं है ?"

उसने मुझे देखा। क्या वताऊं वह कैसी दृष्टि थी। कई क्षण तक देखती रही, देखती रही। फिर वह सहसा उठ खड़ी हुई, हंसी और बोली,



"मोह ! वह जानेवाले होंगे, जानी हूँ।"

बहुत दूर हम साथ-साथ चले, मौन। फिर एक निमत स्थान पर आकर उसने हाथ जोड़कर गहरे स्वर में कहा, "मच्छा।" और वह चली गई। देर तक वह 'मच्छा' शब्द मेरे हृदय का मन्थन करता रहा और देर तक उसके बारे में सोचना हुआ मैं उही तरह चलता रहा।

## रश्मि

उस दिन सारे रास्ते सोचती गई कि हम मोह ने मुझे कैसे जकड़ रखा था ? प्रेम का दावा कितना झूठा था ? मुझमें तो मेरे पति ही सत्य के अधिक पास हैं। पति का ध्यान आते ही मुझे वे दिन याद आ गए जब वह मुझसे विवाह करने की प्रार्थना करने आया करते थे। यह सम्झे-सम्झे पत्र लिखते थे पर मिलने पर कुछ नहीं कहते थे। बस प्रगल्भा पत्र पहुँचाने का स्थान बताकर चले जाने थे। दादी हो जाने के बाद भी वह ऐसे ही रहे। वह कहते कुछ नहीं थे। उन्हें समझना होता था, पर मैं उन्हें कैसे बताती कि मुझे भी कोई समझ पाता। देव-मुन सब सकते हैं, पर समझने के लिए जो हृदय चाहिए वह हरएक के पास नहीं होता। पर सारा दोषारोपण उन्हींपर कैसे करूँ ! मुझे स्वीकार करना होगा कि उन्होंने मुझे अपने बच्चे की माँ तो बनाया, पर कभी विलास की सामग्री नहीं माना। घर की स्वामिनी बनाकर जैसे उन्होंने छुट्टी ले ली। विश्वास की दुनारी निधि उन्होंने मुझे दी, पर नारी की क्या केवल यही विश्वास चाहिए ?

मैं इसी तरह सोचती जा रही थी कि घर आ गया। देखती क्या हूँ कि वह बरामदे में टहन रहे हैं। मैं जैसे ही ऊपर चढ़ी, वह बोले "रश्मि !"

"जी।"

"धूमने गई थी ?"

"जी।"

"प्रदीप के साथ ?"

"जी।"



## १६४ मेरी प्रिय कहानियाँ

“फिर उसे छोड़ कहाँ आइँ ?”

“वह अपने घर गए।”

“और तुम ?”

“मैं अपने घर आ गई।”

“यह तुम्हारा घर है ?”

“जी हाँ।”

वह सहसा तेज हो उठे, “दुष्टा ! दूर हो जा मेरी आँखों के सामने से। यह तेरा घर नहीं है। मैं तुम्हें अन्दर नहीं आने दूँगा।”

मैं ठिठकी नहीं, बढ़ती चली गई। वह रोकने का आगे बढ़े, पर मैंने दरवाजा खोल लिया, और कहा, “देर हो गई, अन्दर आ जाइए।”

“मैं कहता हूँ, जाओ।”

“कहाँ जाने को कहते हो ?”

“प्रदीप के पास।”

“मैं उनके पास कभी नहीं जाऊँगी।”

“आज तक जाती रही हो, झूठ बोलती हो ?”

“झूठ नहीं बोलती। आज तक जाती रही हूँ, पर आज पता लगा कि वह गलती थी।”

“क्या, क्या ?” वे जैसे निरस्त्र हुए।

“मैं आज के बाद उसके पास नहीं जाऊँगी।”

“नहीं जाओगी ?”

“नहीं।”

“रश्मि।”

“विश्वास नहीं आता ?”

“नहीं।”

“तुमने मेरा विश्वास किया ही कब है जो आज करोगे।”

“मैंने तुम्हारा विश्वास नहीं किया ?”

“ईर्ष्या करनेवाले विश्वास कैसे कर सकते हैं ?”



"रदिम ! " वह कांपे । वह अब तक किवाड़ पकड़े खड़े थे । भावेश का उफान अब उतर चला था । उन्होंने किवाड़ छोड़ दिया और फिर बेंत उठाकर बाहर उतरे चले गए । मैं कांपकर बाहर आई । पूछा "कहां जाते हो ?"

कोई जवाब नहीं मिला ।

"मैं भी आ रही हूँ ।" और मैं पीछे-पीछे चली । कुछ दौटना पड़ा । फिर पास आकर बगल में चलने लगी । पर उस रात मैं उन्हें मना न पाई । हम ग्रीष्म सीढ़े और बिना खाए-पिए सो गए । चार दिन तक वह मुझसे नहीं बोले । पाचवें दिन एक ऐसी घटना हो गई जिससे मुझे बड़ी पीड़ा हुई । मेरा छोटा देवर मेरे लड़के दोसर के साथ खेल रहा था । अचानक क्या देखती हूँ कि दोसर चोखता हुआ आ रहा है । मेरे भीतर जो मां भी वह लड़प उठी । मैंने पूछा, "क्या हुआ ?"

"बाबा ने मारा । हमारी बारी थी, बारी नहीं दी । फिर मुझे मारा ।"

बच्चे के मातों पर खून चमक आया था । मैं जैसे पागल हो उठी । मैंने देवर को ग्राडे हाथों लिया । वह भी खूब खोला । वह एक घसीमनीय बात थी, पर ही गई । पर मे खूब तक न जाता । वह दोसर को प्यार करते थे—भाई की नसी में भी बड़ी रक्त था जो उनकी नसी में था । सब कुछ सुनकर मैं गम्भीरता से सोचते रहे, फिर उन्होंने मुझसे इतना ही कहा, "तुम्हारा भी ह इतना कड़वा है ?"

जो बात मुझे कबोट रही थी वही हुई । वह मुझपर गुस्सा नहीं हुए । बात इतना कहकर मुड़ चले ।

१७१

बोली,

"हो गई ।"

नहीं मालूम कि दोनों भाइयों में  
। जी मे आया, जाकर अभी  
दन तक रुठा रहा । मैंने माफी  
। पीछे पड़ी हो ? आप ठीक



१६६ मेरी प्रिय कहानियाँ

हो जाएगा।”

उम घटना के बाद मेरी उनसे मुलाह हो गई। वह मुलाह काफी लम्बी रही क्योंकि अब मैं अक्सर घर रहती थी। यद्यपि मेरा अधिक समय किताबों के साथ बीतता था, पर मैं उनके आने पर सदा बरामदे में मिलती थी। एक दिन ऐसा हुआ कि मैं उन्हें वहाँ नहीं मिली। वह सीधे मुझे ढूँढ़ते हुए पुस्तकालय में पहुँच गए। मैं पढ़ रही थी। बोले, “क्या पढ़ रही हो?”

“प्रदीप का नया उपन्यास है।”

“प्रोह...।”

“बहुत सुन्दर है। एक नारी का चित्रण है जो...।”

“समझता हूँ, तुम्हारा होगा।”

उनकी याणी में काफी तलती थी, पर उधर ध्यान न देकर मैं चिल्ला उठी, “तुम कैसे जानते हो? क्या तुमने पढ़ा है?”

“किसीको जानने के लिए उसकी हर पुस्तक पढ़ना जरूरी नहीं। प्रदीप तुम्हारे अतिरिक्त और किसीका चित्रण नहीं कर सकता।”

“सच कहते हो। उसके प्रत्येक शब्द में मैं रहती हूँ। उसकी प्रत्येक भावना में मैं साँस लेती हूँ। उसके प्रत्येक विचार में मैं जीती हूँ। कहते-वहते मैं जैसे खो-सी गई। देखा तो वह तिलमिला रहे थे। उन्होंने तेजी से कुरसी को धक्का दिया। मेज परका फूलदान नीचे गिरकर खोल-खोल हो गया। जैसे यही कम न हो, वह तेजी से बूटों की आवाज करते और किवाड़ खड़खड़ाते बाहर चले गए। मैं जैसे जागी, पीछे दौड़ी, “क्या हुआ? सुनो तो, पूरी बात तो सुनो।”

“नहीं, नहीं, नहीं।”

“सुनो।”

“मुझे कुछ नहीं सुनना, मुझे कुछ नहीं सुनना।” उन्होंने चीखकर कहा। “तुम मुझे धोखा देती रही हो, तुम मुझसे छल करती रही हो। तुम उससे प्रेम करती हो, तुम उसे चाहती हो।”

“सुरेश, सुरेश!” मैंने नाम लेकर पुकारा। गजेटिड आफिसर की



पत्नी होने के बावजूद मैं कभी उनका नाम नहीं लेती थी। वह बार-बार मेज पर सिर पटक-पटककर बोले, "तुम मुझे नहीं चाहती। नहीं, नहीं..."

"क्या करते हो?" मैंने उन्हें मममाया, "बच्चे क्या कहेंगे?"

"बच्चे?" उन्होंने दात भीचे, "बच्चे सब कुछ जानते हैं। वे मेरे नहीं हैं।"

"मुरेश!" मैंने चीखकर कहा, "नहीं, नहीं, तुमने यह नहीं कहा।"

"मैंने कहा है। मैं कहता हूँ। बच्चे मेरे नहीं हैं, नहीं हैं।"

मैंने किसी तरह अपने को सभालकर कहा, "मुरेश, तुम शक्ति में हो। फिर बातें करोगी।"

उन्हें ऐसे ही छोड़कर मैं बाहर आई। क्या देखनी है कि प्रदीप खड़ा है। गुस्सा माना चाहिए था, पर हुआ यह कि मैं मुस्करा उठी, "तुम?"

प्रदीप ने कहा, "जाता हूँ।"

और वह मुड़ते चले गए। मैंने चीखकर पुकारना चाहा, हाथ भी उठाया पर न मैंने पुकारा न वह रुके। मैं अन्दर दोड़ी चली गई। मैंने मुरेश से कहा—"सुनते हो, प्रदीप आए थे।"

पर मैं देर से पड़ूँगी। मुरेश के हाथ में प्रदीप का पत्र था। उसमें लिखा था—

"प्रिय मित्र,

"मेरा है, मेरे कारण आपके शान्त जीवन में तूफान आ गया है, पर बिश्वास करिए मैंने इसे कभी नहीं चाहा। जहां तक जान सका हूँ रश्मि भी नहीं चाहती। फिर भी वह है तो। मैं थाज यह कहने आया था कि मैं बस यह नगर छोड़ रहा हूँ। पर जो देखा उसने साहस नहीं हुआ। सो लिख-कर प्रणाम करता हूँ।

आपका मित्र—

प्रदीप"

पड़ लेने पर दोनों में कोई बात नहीं हो सकी, पर तनाव आप ही



याप हीना पड़ गया। मुझे नो मेमा लगना रहा जैसे प्रदीप लौटकर आ रहे हैं। जहाँ भी मैं गई मैंने उनको हँसी सुनी। उनका सीम्य-शान्त मुग देगा। उनकी प्रेमिन याँतों को भाँकते पाया। लगा जैसे वह कहीं से निकल आए हैं, पर वह सब अन्दर की बात है। बाहर तो वह सचमुच चले गए थे और इसीलिए शान्त मन काम करती रही। सवेरे जब गाड़ी का वक्त होनेवाला था मैंने प्रदीप को स्टेशन जाने, टिकट सारीखत और गाड़ी में चढ़ते देखा। वह जैसे वध पर बैठकर कहीं दूर गये गए हैं। निश्चय ही वह मेरे बारे में सोच रहे थे। न नोचने तो जाते कैसे! उमी समय मुरेश तेजी से आए, कहा, “रश्मि, तुम स्टेशन चलना चाहोगी?”

मुझे ताज्जुब हुआ, बोली, “क्यों?”

“शिष्टाचार के नाते हमें प्रदीप को नमस्कार करना चाहिए।”

मैंने कहा, “मैं नहीं जाऊंगी।”

“रश्मि!”

“तुमने एक दिन कहा था कि प्रदीप शिष्टाचार में विश्वास नहीं करता।”

“मुझे याद है, पर वह करता है।”

“कैसे जाना?”

“कल आया जो था।”

नहीं जानती थी कि स्वामी इतनी करारी चोट करना जानते हैं।

फिर भी मैंने कहा, “पर मैं नहीं जाऊंगी।”

“मैं जो कहता हूँ इसलिए?”

“नहीं।”

“नहीं कैसे?” वह क्रोध से भभक उठे। “मैंने कहा, इसलिए तुमने नकार दिया है।”

“न कहते तो क्या मैं जाती?”

“हां, जाती। जाने को तुम तड़प रही हो।”

और वह तेजी से चले गए। मैं देखती रह गई। मैं जानती हूँ कि मैं



उनके साथ चली जाती तो वह भुके खा जाते, पर मैं उन्हें क्या दोष दू ? अपराधिनी तो मैं हूँ। मैंने क्यों प्रदीप को सोना ? क्यों उसे चाहा ? पर मैं स्वयं इस 'क्यों' को नहीं जानती। सब कुछ जानना न सम्भव है, न आवश्यक। वह स्टेशन गए और लौटकर उन्होंने सब कुछ बताया। कुछ मया नहीं जगा, क्योंकि मैं स्वयं वहा थी। साथ जा भी रही हूँ। जितने के स्वामी मालिक हैं, उससे परे जो है, वह तो प्रदीप के साथ है।

फिर बहुत दिन बीत गए। स्वामी आजकल बहुत खुश हैं, क्योंकि मैं निरन्तर उनमें खो जाने का प्रयत्न करती रहती हूँ। उन्हें बिठाती रहती हूँ, खिजाती हूँ, ऐसा बरताव करती हूँ, जैसे हमारा अभी-अभी ब्याह हुआ है। उन्होंने एक दिन दफ्तर से लौटकर कहा—“घरे रमिम, तुमने सुना ?”

“क्या ?”

“प्रदीप ने ब्याह कर लिया।”

मैंने मुस्कराकर कहा, “सच ?”

“हां, देखो उसने हमें निमन्त्रण तक नहीं भेजा।”

मैं हसकर रह गई। उन्होंने एक क्षण रुककर कहा, “क्या कोई उपहार भेजकर हम उसे चकित नहीं कर सकें ?”

“यह उसका अपमान होगा।”

“घोड़ !” उनकी मुद्रा कठोर हो गई। उन्होंने कहा, “नहीं, नहीं, उसे उपहार भेजना चाहिए।”

वह चले गए, लेकिन वट उपहार भेज सकने इससे पूर्व उन्हें दूर दक्षिण की यात्रा पर जाना पड़ा। लीटे तो विषम वषर से पीड़ित थे। सब धी महीने तक हमारा घर अस्थान बन रहा। मैं उनकी पट्टी से लगी रही। उन्हें जब समझते-जितना होग धाया तब वह अचानक मेरा हाथ दोनों हाथों में दबा लेते, सहलाते रहते फिर माथे पर फेरते रहते। एक दिन बोले—“रमिम !”



"जी।"

"तुम किनगी अच्छी हो।"

"आप अच्छे हैं, तभी तो मैं अच्छी हूँ।"

"नहीं रश्मि, मैं अच्छा नहीं हूँ।" और कहकर वह रो पड़े, "रश्मि, मैं पापी हूँ। मैंने तुम्हें समझा नहीं..."

"नूप नहीं करोगे?"

"नहीं, नहीं, आज कह लेने दो। मैंने प्रदीप को लेकर तुम्हें कितना दुःख दिया। रश्मि, अब मुझे नभी मुग होगा जब तुम उससे मिलोगी। मुम उगसे मिलो, उसकी पुस्तकें पढ़ो, उसे बुलाओ। मुझे तुमपर विश्वास है।"

"अब नूप हो जाओ। तुमने किसने कहा कि तुम मेरा अविश्वास करते हो?"

"नहीं, नहीं, मैं करता हूँ। मैं करता हूँ। मुझे पैन दो।"

"पैन?"

"दो न।"

मैं कागज़-कलम उठा लाई। वह बोले, "लिखो।" मैंने लिखा, "जब मैं अच्छा होता हूँ तब तुमपर शंका करता हूँ। मैं आज कहता हूँ कि तुम प्रदीप से मिलने को स्वतन्त्र हो। मेरे मना करने पर भी जा सकती हो।" फिर उन्होंने दस्तखत कर दिए। तब मैंने उसे फाड़ डाला।

वह ठगे-से बोले, "यह क्या किया तुमने?"

"मेरी सम्पत्ति थी, नष्ट कर दी। क्या मुझे इतना छोटा समझा है कि अपने और स्वामी के बीच कागज़-कलम को आने दूंगी?"

आँखें बन्द कर लीं। आँसू की दो बूँदें गालों पर वह आई।

, कि मैं सदा बीमार रहूँ!"

, भी, क्या अशुभ बातें करते हो।"

"सच।"

"चुप रहो। नहीं, मैं चली जाऊंगी।"



मैंने कुछ ऐसे कहा कि वह मौन हो गए। कम चुनचाप मेरा हाथ बंध-  
करा रहे। लेकिन इस सबके बावजूद बड़ा मैं स्वीकार कर सकती हूँ कि  
मैं प्रदीप से जुड़ा थी।

किर वह बचप्ये हो गए। फिर मैं बीमार पड़ गई और एक दिन चार-  
पाई पर लेटे-लेटे क्या देगती हूँ कि हाइटमें से तिर हिना-हिनाकर गिरे  
पति को दरा दिया है। उनके चने जाने पर मैंने मामी को बुलाया, "बनो  
जी, हाइटरी के बरकर से बसों पड़े हो? मैं ठीक हूँ जाऊगी।"

वह बोले नहीं, रो पड़े। मैंने कहा, "छि, छि, पुरान हो। मुझे गो  
देगो।"

यह फिर भी नहीं बोले। चुनचाप मेरा पीसा हाथ दबाते रहे। मैंने जो  
भरकर उठे देगा। एक दिन मुझे क्या पागलपन लूभा। अर्क्या को बुला-  
कर स्वामी को गोप दिया, जैसे सब तब से उनसे दूर थे। था न यह मेरा  
मोह? यह पिशाच क्या निर्माको छोड़ता है? ...पर सब नहीं पिशा  
जता। सब सब तो चुनचाप लेटकर जहाँ तक देग मरूँ देवने को जो  
खाहता है।

## प्रदीप

कैसे बसाऊ कि कैसे मैंने उसे भूलने की सागर बरम की नोक में खो  
जाने का प्रयास किया? पर हर बार क्या देगता हूँ कि मेरी हर रचना  
में वही उपस्थित है। यह हर बार मानो घोषणा करती, 'मेरी बात मानो।  
मुझे गुमंग मोहें जुटा नहीं कर सकती। वह समिट हूँ भी नहीं जिसे  
मोह कहते हैं।' मैंने तब धाकर बिनाह कर दिया, पर वह नियंत्रण तो तब  
भी नहीं हटी। ...कैसे कहूँ क्या मैं उसे निर्मग्न? सज्जा उसके लिए  
बनी ही नहीं थी।

मैं एक दिन न जाने किस रंग में था कि अपनी परनी नीरवा को  
उतारी मारी कहानी गुना बेंटा। गुनाकर बोला, "क्या पठ प्रमापारण  
नहीं है?"



नीरजा जो एक अच्छी निकपार थी, सहसा चीन उठी, “नहीं तो ! अनाधारण इसमें ऐसा क्या है ?”

“पति के रहने उसका मेरे प्रति प्रेम ।”

नीरजा ने शान्त भाव से कहा, “पति के प्रेम से इसका क्या सम्बन्ध है ? अपने आदर्श को वह तुममें पाती रही है । जहां आदर्श की एकता है वही अद्वैत है । जहां अद्वैत की भावना है वहां शरीर आ ही नहीं सकता । इस अर्थ में चाहे तो तुम उसे अनाधारण कह सकते हो । वरना पति-पत्नी इसमें आते ही नहीं ।”

जैसे बरफीले कुहासे को चीरकर स्वर्णिम सूर्य-प्रकाश धरती पर उतर आता है ऐसे ही मुझे लगा । मैं नीरजा का हाथ दबाकर पूरे एक क्षण तक उसे देखता रहा । उस एक क्षण में अनन्त विचार मेरे मन में उठे । फिर मैंने कहा—“नीरू, लेकिन...लेकिन क्या मैं उसे कभी नहीं भूल सकता ?”

“नहीं, वह तुम्हारे बस की बात नहीं है । वह तुम्हारी भावना का अंग है ।”

और सहसा नीरू यहां से उठकर चली गई । यह हमारे विवाह के तीन वर्ष बाद की घटना है । वह तब मां बन चुकी थी । उसकी इस अनुभूति से मैं भर उठा । मैं इन बातों को नहीं जानता था ऐसी बात नहीं थी, पर नीरू भी उसे इस तरह समझती है यह ज्ञान मेरे लिए, मैं मानूंगा, आश्चर्य-जनक प्रसन्नता का कारण हुआ । मैं नीरू के पास आने लगा । मैं अपनी रचनाएँ पहले भी उसे सुनाता था, पर अब तो जैसे मेरा नियम हो गया । वह भी अपने प्रत्येक चित्र की भाव-व्यंजना को लेकर बड़ी देर तक मेरे पास बैठकर देखती, पर मैंने देखा कि मेरी कलम की नोक पर रश्मि का ही आर था । मैंने नीरू से फिर इसकी चर्चा की । पूछा—“क्या तुम कलम की नोक पर नहीं आ सकतीं ?”

वह शरारत से हंसी, बोली—“मैं तुम्हारी पत्नी हूँ ।”

“क्या मतलब ?”



“मतलब यहो कि मैं एक ही स्थान पर रह सकती हूँ—प्रेमिका के या पत्नी के पद पर।”

“क्या पत्नी कलम की नोक पर नहीं आ सकती ?”

“नहीं, नहीं, नहीं, इतना भी नहीं जानने—” वह लोट-लोट होती गई, कहती गई।

आप समझते होंगे कि तब मैं विभूढ-सा होकर लज्जा गया हूँगा। नहीं, यह सब तो मैं सदा जानता रहा हूँ, पर मैं जिस बात की जीतना चाहता था वह यह थी कि रश्मि अब मुझे अधिक मोटाबिष्ट कर रही थी। मैं उसे दूर हटाकर नीरु के पास जाना चाहता था, पर हुआ वह कि मेरा प्रत्येक ऐसा प्रयत्न मुझे रश्मि के और पास ले आया। अब मैं तो प्रतिक्षण उससे देखने लगा। किसी भी क्षण कहीं ने आकर वह मेरे नेत्र मूढ़ लेती, पित्तक्षितकर मुझे डरा देती। मुझे आलिंगन में बाधकर झूझ भभोड़ती। आखिर एक दिन मैंने निश्चय किया कि मैं बस रश्मि के पास जाऊँगा और जो कुछ होगा सहूँगा, पर हुआ यह कि अब तक मैं उस निश्चय को पक्का करूँ एक मधेरे बसा देखता हूँ—भुरेस आग है।

मैंने मन की हड़बड़ी को यथाशक्ति बसा में करने हुए कहा—“आप ?”

“हो, अभी आया हूँ।”

“जल्दरी सरकारी काम से आना पड़ा होगा ?”

“नहीं, तुमसे ही कुछ काम था।”

“मुझसे ? मैं मान लूँ, मैं विस्मित हुआ था और उनकी गम्भीर माकृति में मुझे कुछ बड़पाकुनी भी नजर आ रही थी। मैंने उत्सुकता दबाकर उन्हें बँटाया। बातचीत करने की चेष्टा की, पर वह भयंकर रूप से घपने में मिरटे रहे। मैं निरन्तर रश्मि को झूँझता रहा। पर न जाने क्यों उसका नाम जित्ना पर आ-आकर लीट जाता था। तब नीरु कहीं बाहर गई हुई थी, इस कारण मेरी स्थिति और भी खराब थी। मैं क्या करूँ ? यह सोचते वयो नहीं ? रश्मि की बात क्यों नहीं करते, फिर सहसा वह बोले, “प्रदीप, क्या तुम्हें पता है कि रश्मि अब इस दुनिया में नहीं है ?”



मैं सितुर उठा—“क्या ?”

“हां, दो वर्ष पहले एक छोटी-सी बीमारी के बाद वह मर गई।”

मैं नीव उठा—“दो वर्ष पहले ?”

“हां, मुझे पता है, कि मैं तुम्हें...नहीं मेद की कोई बात नहीं। मैंने जान-बूझकर तुम्हें सूचना नहीं दी।”

तब की अपनी अवस्था कैसे बखान करूं ? कर ही नहीं सकता। प्रलय क्या कभी किसीने देखी है ? लेकिन वह तो कुछ कहे जा रहे थे। मैंने गुना, वह कह रहे थे, “प्रदीप, सब कहूं तो मैंने ही उसकी हत्या की है। बीमारी तो बहाना थी। असल में वह इस धरती के योग्य नहीं थी और मैं था धरती का कीड़ा। इसलिए मैंने उसे मार डाला।”

फिर वह हंस पड़े। वह पागल-सी हंसी ! मैंने तड़पकर कहा, “कैसे मार डाला ?”

“उसके चरित्र पर शंका कर-करके।”

फिर उन्होंने छोटा-सा सूटकेस खोला। उसमें से कई सुन्दर पैकेट निकाले। मैंने देखा प्रत्येक पैकेट पर रश्मि ने अपने हाथ से सुन्दर अक्षरों में कुछ लिखा था। मैंने पढ़ा, पहले पैकेट पर लिखा था, “तुम्हारे विवाह की प्रत्येक गतिविवि की मैं साक्षी हूँ। मुझसे भागकर क्या तुम छिप सकोगे ? भागना तो, बन्धु, मोह है। यह पैकेट भी मोह का प्रतीक है, पर तुम्हें भेज कहाँ रही हूँ। तुमने निमन्त्रण नहीं भेजा तो पैकेट भेजकर तुम्हारा अपमान क्यों करूं ?”

दूसरे पर लिखा था, “तुम न बताओ। तुम्हारे शिशु के सुनहरे बाल मैंने चूम लिए हैं। और देख रही हूँ कि उसकी सूरत तुम दोनों से अधिक मुझसे मिलती है।”

तीसरे पैकेट में अनेक पत्र थे। एक पत्र में लिखा था—

“प्रिय बन्धु,

“मैंने तुमसे कहा था कि स्वामित्व की भूख शरीर की भूख से बड़ी होती है। क्या तुम नहीं जानते कि सतीत्व स्वामित्व की इस भूख का ही



व्यापारिक नाम है। मैंने तुम्हारी रचनाओं में यह प्रतिष्पन्नि गुणों है।”

दूसरा पत्र था—

“प्रिय बन्धु,

“आज सुपसे बहुत बातें हुईं। तुम्हारी कहानी ‘निनेष’ में धारदा मैं ही तो हूँ, निरोध तुम हो, उस सारी कहान को पढ़ने हुए मुझे स्पष्ट तुमसे कहना पड़ गई, पर कहस तो कमजोरी का दूसरा नाम है, क्योंकि उसमें हारने-प्रीतने की भावना है और उपदेश देना है महम् का विस्फोट ... क्या करें धारी के बाती ठहरे, कैसे बचें इस सोचने से ? क्या इतना सोचनी हूँ, यह भी सोचना पड़ता है, पर पुछनी हूँ, धारदा धरती पर क्यों न रह सगी ? क्या मुझे भी जाना होगा ? ...”

तीसरा पत्र ऐसा था—

“प्रिय बन्धु,

“इतने दिन उनकी बीमारी में डूबी रही। सुमपर वह बेहद प्रसन्न हो उठे हैं। कहते हैं, मिल आओ, पर उन्हें कैसे बताऊ कि दूर कहाँ जो मित्र। प्रिय बताना भी नहीं चाहती, क्योंकि इस धरती पर सर्वत्र सम्भव नहीं। यहाँ तो एकाधिकार चाहिए। यहाँ पूँजी बटती नहीं, निमोरी में बन्द करके रखी जाती है, पर मैं कैसे रखूँ..... मैं धारदा का पत्र पढ़-रूँगा। ...”

यह आत्मश्रुति पत्र था और इसमें उसके पत्र की छवि थी। मैंने सहसा पूछा, “उसकी मृत्यु कैसे हुई ?”

“बना तो चुका हूँ।”

“मैं बनाने की बात नहीं पूछता। सच्ची बात पूछता हूँ।”

सुरेश ने तीली दृष्टि से मुझे देखा, फिर कहा, “जिस दिन आदमी मर्कटी भाग जान लेगा उस दिन सब कुछ नष्ट हो जाएगा। विद्वत्पण विनाश का मार्ग है, प्रदीप।”

मैं इतना उन्हें देखता रह गया। वह मुस्करा रहे थे। हाय ! वह जलती हुई मुस्कुराहट ! मैंने विनम्र होकर कहा, “मुझसे मतती हुई। मैं कुछ नहीं



जानना चाहता।”

मैं सचमुच कातर होता गया। अब वह मेरी ओर देखते रह गए। आंख उनकी भी डबडबाने लगी थी। ठीक उसी समय नीरजा ने वहाँ प्रवेश किया। बेटी नीहार उसके साथ थी। उसे देखते ही सुरेश ने चौंकर कहा, “यह कोन है?”

“मेरी बेटी।”

“क्या रश्मि इस आगु में ऐसी ही नहीं रही होगी?”

उस बात का किसीने जवाब नहीं दिया। रश्मि की मौत का समाचार पाकर नीरु एक क्षण हँसे देखती रही फिर बोली, “नहीं, वह मर नहीं सकती। वह आज भी जिन्दा है और सदा जिन्दा रहेगी।”

सुरेश ने इस बात में कोई रस नहीं लिया, वह जैसे खो गया था। एक क्षण बाद उसने कहा, “क्या कभी-कभी मैं यहाँ आ सकता हूँ?”

“आपका सदा स्वागत होगा।”

फिर एक क्षण बाद उन्होंने नीरु से कहा, “क्या आप उसका एक चित्र बना देंगी?”

“आपकी आज्ञा होगी तो...”

“नहीं, नहीं” वह सहसा बोल उठे, “यह मोह है, निरा मोह, ढोंग...”

और वह चले गए। रुके ही नहीं। सब प्रयत्न व्यर्थ गए और उसके बाद कभी आए भी नहीं। पत्र तक नहीं लिखा।

एक बार दम्पई में अचानक उनसे मेरी भेंट हो गई। वह सन्ध्या के समय समुद्र-तट पर कार से उतर रहे थे और उनके साथ नये वस्त्रों से लकड़क एक नारी थी। मैंने उन्हें दूर से देखा। मैं जानता नहीं पर विश्वास करता हूँ कि वे दोनों पति-पत्नी थे।

तब न जाने क्यों उस धूमिल अन्धकार में रश्मि की याद करके पहली बार मेरी आंखें भर आईं।



## एक रात : एक शव

आधी रात बीत चुकी है। एक न्याम स्वभावता के बीच सोई हुई अपने कमरे में बैठी हूँ। केवल अपनी घुटी हुई मावाजों की साँसें सुन रही हूँ, क्योंकि घर में सपेरा है। सिर्फ वरामदे में हल्का बल्ल जम रहा है। सामने के मकान की रोशनी उसपर पड़नी ऐसे लगती है जैसे किसी बाली औरत ने खेत सिल्क के बदन पहने हों या शव पर कफन हो।...

मैं कांपती हूँ। मुझे शय की बयो याद आती है, क्योंकि कुछ क्षण पहले मैं भी उसी कमरे में थी जहाँ ताऊजी का शव रखा हुआ है। ताऊजी, जो सन्ध्या तक भग्न और उल्लास की मूर्ति बने हुए थे। जैसे उन्होंने जीवन का चरम लक्ष्य पा लिया था। हर्ष-विमोह कई दिन से वह बार-बार लगे यही कह रहे थे, "मेरी अन्तिम माध भी पूरी हो गई। मुद्दा का बिनाह एक ऊँचे और कुलीन घराने में ही गया है। कैंसी सुनीन, मुसलमान और मुन्दर है उसकी बहू प्रमिता। देखो तो, दहेज शितना सार्ई है।"

सुनते वाले उनकी हाँ में हाँ मिलाते। उन्हें बधाई देते। मन ही मन धायद उनके भाग्य में ईर्ष्या भी करते हों, लेकिन वहाँ, "भायने सचमुच बहुत पुण्य किए थे।"

बात काटकर ताऊजी उत्तर देने, "हाँ, पुण्य तो किए थे। तभी तो



जानना चाहता।”

मैं सचमुच कातर होता गया। अब वह मेरी ओर देखते रह गए। आखिर उनकी भी घबड़वाने का हो आई। ठीक उसी समय नीरजा ने वहाँ प्रवेश किया। बेटी नीहार उसके साथ थी। उसे देखते ही सुरेश ने चींककर कहा, “यह कौन है?”

“मेरी बेटी।”

“क्या रश्मि इस आगु में ऐसी ही नहीं रही होगी?”

इस बात का किसीने जवाब नहीं दिया। रश्मि की मौत का समाचार पाकर नीरजा एक क्षण हमें देखती रही फिर बोली, “नहीं, वह मर नहीं सकती। वह आज भी जिन्दा है और सदा जिन्दा रहेगी।”

सुरेश ने इस बात में कोई रस नहीं लिया, वह जैसे खो गया था। एक क्षण बाद उसने कहा, “क्या कभी-कभी मैं यहाँ आ सकता हूँ?”

“आपका सदा स्वागत होगा।”

फिर एक क्षण बाद उन्होंने नीरु से कहा, “क्या आप उसका एक चित्र बना देंगी?”

“आपकी आज्ञा होगी तो...”

“नहीं, नहीं” वह सहसा बोल उठे, “यह मोह है, निरा मोह, ढोंग...”

और वह चले गए। एके ही नहीं। सब प्रयत्न व्यर्थ गए और उसके बाद कभी आए भी नहीं। पत्र तक नहीं लिखा।

एक बार बम्बई में अचानक उनसे मेरी भेंट हो गई। वह सन्ध्या के समय समुद्र-तट पर कार से उतर रहे थे और उनके साथ नये वस्त्रों से लकड़क एक नारी थी। मैंने उन्हें दूर से देखा। मैं जानता नहीं पर विश्वास वे दोनों पति-पत्नी थे।

मैंने क्यों उस धूमिल अन्धकार में रश्मि की याद करके पहली खिं भर आई।



## एक रात : एक शव

आधी रात बीत चुकी है। एक नृशंस स्वप्नता के बीच खोई हुई अपने कमरे में बैठी है। केवल अपने घुटी हुई आवाजों की सांसें सुन रही है, क्योंकि घर में मधेरा है। सिर्फ बरामदे में हल्का बत्त जल रहा है। गामने के मकान की रोशनी उसपर पड़ती ऐसे लगती है जैसे किसी बाली घोरत ने हवेलत सिलक के वस्त्र पहने हों या दाव पर कफन हो।...

यै कापती है। मुझे दाव की कयो याद आती है, क्योंकि कुछ सण पहले मैं भी उसी कमरे में थी जहां ताऊजी का दाव रखा हुआ है। ताऊजी, जो सम्प्रा तक आनन्द घोर उत्सास की मूर्ति बने हुए थे। जैसे उन्होंने जीवन का चरम लक्ष्य पा लिया था। हर्ष-विभोर कई दिन से वह बार-बार सबसे यही कह रहे थे, "मेरी मन्त्रिय साध भी पूरी हो गई। सुरेश का विवाह एक ऊँचे और कुनोन घराने में हो गया है। कौसी मुनीन, सुविधिता और सुन्दर है उसकी बहू प्रमिता। देखो तो, दहेज कितना साई है।"

मुनेने वाले उनकी हा में हाँ मिलाते। उन्हें बघाई देते। मन ही मन शायद उनके भाग्य से ईर्ष्या भी करते हों, लेकिन कहते, "भापने मचमुच दहेज पुण्य दिए थे।"

बान बादकर ताऊजी उत्तर देने, "हां, पुण्य तो किए थे। तभी तो



मेने जो पाहा वही पाया । भगवान की कृपा है !”

लेकिन उस सन्ध्या को सहसा उन्हें अपने छोटे भाई कमल किशोर की याद हो आई । दीन निःश्वास गीनकर बोले, “काश आज वह होता ।”

मेरे ममेरे भाई वही बड़े थे । कहा, “जी हाँ, भाग्य की बात है । पर किमना धीरे-धीरे तानाब में डूब गए । मगध कितनी जल्दी बीतता है । पच्चीस वर्ष हो गए उस दुर्गटना को । तब मुरेश तीन ही वर्ष का तो था ।”

ताऊजी को कण्ठावरोध हो आया । जदा रुककर दो-तीन साँसों लीं । फिर एकाएक बोले, “एक दाग लगा गया मेरे जीवन में । सब खुशियों के बीच भी मैं उसे नहीं भूल पाता । शायद उसकी याद ही मेरी ताकत बन गई है । मुझे गुशी है कि उसके तीनों बच्चों को मैंने वह शिक्षा दी कि जो शायद वह भी न दे पाता । आज वे तीनों योग्य हैं ।”

ममेरे भाई ने कहा, “जी हाँ, आपने जो कुछ किया है वह आदर्श है । लेकिन देखो, दिनेश लन्दन जाकर वापिस ही नहीं लौटा ।”

ताऊजी गवित स्वर में बोले, “क्यों लौटेगा ? वहाँ हजारों रुपये महीना कमाता है । वहाँ उसे कोई सी भी नहीं देगा । यह देश ही ऐसा है । यहाँ प्रतिभा की कद्र नहीं है । मुझे खुशी है कि वह वहाँ सुखी है ।”

लेकिन न जाने क्यों अन्तर में एक कचोट-सी उठी । जल्दी-जल्दी हुक्के के कश खींचने लगे । आँखें सजल हो आईं । सबके चले जाने पर भी बहुत देर तक कहीं खोए-खोए बैठे रहे । हवा में चिल पैदा होने लगी । प्रकाश सिन्दूरी हो चला । ताई ने कई बार पुकारा । वह नहीं उठे । माँ गई तो एकटक उसकी ओर देखते रहे, उठे फिर भी नहीं । धीरे से इतना ही कहा, “मुरेश दिल्ली से लौट आया है ?”

“जी हाँ ।”

“कुछ कहता था ?”

माँ ने एकाएक कुछ उत्तर नहीं दिया । चुपचाप अन्दर जाने को मुड़ी । फिर सहसा द्वार पर आकर रुकी । बोली, “वह पागल हो गया है । वह जो



चाहता है वह नहीं होने का। नहीं हो सकता। बाप घन्दर था जाइए।”

ताऊजी ने सामने रंगी हुई हवा के की नती से जोर से कस खींचा। वह निरन्तर हुए धुर को देखने रहे, बुदबुदाते रहे। “लोग कहेंगे यह रहा उन सबको का बाप जो अपने को बाप कहने पारमाता है, जो कायर है, जो...”

एकाएक वह चौंक पड़े। देखा सुरेश जन्हींकी ओर था रहा है। वह जैसे पसीने में नहा-नहा उठे। चाहा कि कहीं भाग जाए। लेकिन हुआ यही कि सुरेश पास आकर बैठ गया। एक क्षण उन्होंने उसे ऐसे देखा जैसे पहली बार देख रहे हो। स्वस्थ मद्रावा शरीर, किंचित् श्यामलवर्ण, पर नया बँने तोरण। कही भय नहीं, सका वहाँ। बिना किसी भूमिका के उसने कहा, “सब प्रकाश हो गया है। अपने महीने की पन्द्रह तारीख को मैं मन्दन बना जाऊंगा।”

ताऊजी ने सहसा दृष्टि उठाकर उसकी ओर देखा। कहा, “किसी भी शर्त पर नहीं एक सकते?”

“जी नहीं।”

“सुरेश, क्या तुम्हें यह बताना पड़ेगा कि मैंने तुम्हें किस तरह पाया है? क्या उस सबका यही परिणाम होना कि मैं यहाँ धकेला लड़पता रहूँ?”

सुरेश कई क्षण ताऊजी की ओर देखता रहा। फिर बोला, “मैं आपको सब कुछ बता चुका हूँ। क्या आपमें यह कहने का साहस है कि बड़े भैया और मैं आपकी सन्तान हैं?”

ताऊजी एकाएक सिहर उठे। उनके मुँह से इतना ही निकला, “सुरेश।”

सुरेश ने उसी दृढ़ता से कहा, “मैं आपको पिताजी कहने का अधिकार चाहता हूँ। मैं सबको यह बता देना चाहता हूँ कि जिस व्यक्ति का मैं पुत्र कहलाता हूँ वह तालाब में झकझकाती नदी बूब गया था, बूबने के विलिए बस कर दिया गया था। मैं उसका पुत्र नहीं हूँ। मैं उसे नहीं पहचानता। मैं आपका पुत्र हूँ।...”



## १८० मेरी प्रिय कहानियां

सुरेश अवाध गति से बोले चला जा रहा था। मानो शब्द उसके होंठों से बह रहे हों और ताऊजी पत्थर की श्वेत प्रतिभा की तरह उसकी ओर दमे जा रहे थे। उनके शरीर में जैसे रक्त नहीं था, ठण्डा नावा था। वह शोध से उबलना चाहते थे लेकिन घमनियां जैसे ग्रव उनके वश में नहीं थी। जैसे वह थे ही नहीं।...

सहसा वह रो पड़े। विधियाने हुए बोले, "सुरेश, इस बुढ़ापे में क्यों मेरी मिट्टी खराब करता है? क्यों मेरे मुंह पर कालिख पोतता है? मुझे क्षमा कर दे।..."

सुरेश तनिक भी विचलित नहीं हुआ। उसी ठण्डी दृढ़ता से उसने कहा, 'मैं अपना अधिकार मांगता हूं। मैं जानता हूं, आपमें साहस नहीं है। इसी-लिए आपको शान्ति से मरने देने के लिए मैं यह देश छोड़कर जा रहा हूं, कभी न लौटने के लिए।'

और वह उठ खड़ा हुआ। उसने ताऊजी की ओर देखा। कल इन्हीं ताऊजी ने उबल-उफनकर उससे कहा था, "वेईमान, बदतमीज़, शर्म नहीं आती बकवास करते हुए! इतना भी नहीं जानता कि बड़ों से क्या कहा जाता है, क्या नहीं?"

सुरेश बोला था, "आपका ही हूं, आपने ही मुझे शिक्षा दी है। मैं सत्य जानना चाहता हूं।"

"सत्य का बच्चा! चुपचाप यहां से चला जा, नहीं तो..."

"मैं जानता हूं, आप मेरी भी हत्या कर सकते हैं। मैं तैयार हूं।"

वह हठात् नेत्र-विस्फारित किए देखते ही रह गए थे। इतना ही कह सके, "सुरेश..."

"जी, पिताजी।"

"चुप रहो।"

"जी।"

"तुम्हारे पास क्या प्रमाण हैं इस बात का?"

"आप। आप मना कर दीजिए कि वह कहानी झूठी है।"



“.....”

“बीबिएन । मैं भी भाई माहय को बुला लाऊंगा ।”

बल भीष उठे, “जा, तू भी चला जा । हट जा मेरी छाँखों के सामने से ! हट जा !”

तब वह चुपचाप चला गया था । छात्र भी चुपचाप चला गया । पर ताऊजी की दृष्टि तब कहीं से गई थी । मोई रही । बहुत देर बाद उन्होंने उठने का प्रयत्न किया और इसी प्रयत्न में वह सड़क पर गए और फिर नाली के पास गिर पड़े । हर घर के भीतर एक नाली होती है जो छद्मद को बाहर से जाती है । कभी-कभी वह रुक भी जाती है । उस क्षण उन्हें लगा जैसे वह नाली कभी की रुकी हुई है, जैसे उसकी सड़ाद उनके नासिका-रन्ध्रों में बसने लगी है और वह दूब रहे हैं, उस सड़ाद का भग बन रहे हैं ।

न जाने वह कब तक वहाँ पड़े रहने कि माँ उधर आ निकली । एक बीरवार उनके मुख से निकल गई और उसीको सुनकर परिजनों की भीड़ वहाँ इकट्ठी हो गई । जरादो-जन्दी उन्हें भारपाई पर मिलाया गया । डाक्टर पर डाक्टर आए और चले गए । गिर हिला-हिलाकर खड़े अपनी अस्मर्यता प्रकट की । हृदय की गति बन्द हो जाने के कारण ताऊजी की मृत्यु हो चुकी थी ।

और अब बड़ी ताऊजी उसी कमरे में धरती पर लेटे हैं । उनके सिर-हाने बेठी हुई ताई भी रह-रह कर बीरवार कर उठती हैं । उनका कण धन्दन हम सबको रोने के लिए विषम कर देता है, नहीं तो हमारे आँसू सूख चुके हैं । भा परपर की प्रतिमा-जी आँखें फाड़े एक कोने में बैठी शून्य में ताक रही है । वह हिलती-डुलती तक नहीं । किसीकी बात का उत्तर तक नहीं देती । किसीके हिलाने-डुलाने पर कोई प्रतिक्रिया उसमें पैदा नहीं होती । मैंने उसे बहुत भकभोर, बहुत कुछ कहा पर उसकी पथराई हुई आँखों ने ज़ुम्बिल तक नहीं ली । तभी मेरे कानों में पीछे से एक आवाज आई । वह दूर-दगज की मेरी एक आवाज थी । धीमे-धीमे बिद्रूप से कह रही







वह उसी तरह उनकी सेवा करती रही, उसी तरह सबपर शासन करती रही...

दो दिन पूर्व सुरेश ने मां से भी यही कहा था, "मां, तुमने सदा शासन किया है। तुमने अमित साहस है। फिर तुम इस सत्य को क्यों नहीं स्वीकार करती कि दिनेश भैया और मैं उस पिता की सन्तान नहीं हैं जिसका नाम म्युनिनिपल कमेटो के रजिस्टर में लिखा हुआ है। यह क्यों नहीं कहती कि तुम उसकी पत्नी नहीं हो। नमः..."

सुनकर मा उड़त हो आई थी। दात भीचकर कहा था, "तुम्हें दर्म नहीं आती मा से इस तरह बातें करते? तू कौन होता है यह कहने वाला कि तू किसका बेटा है? यह मेरा अधिकार है।"

सुरेश हसा था, "मा, तुम जाननी हो कि तुम्हारी यह दुःखता बालू की भित्ति पर खड़ी है। तुम झूठ बोल रही हो। तुम अब इस स्थिति में नहीं हो कि मुझे रोक सको। मैं निश्चय ही चला जाऊंगा। हा, यदि रोकना चाहती हो तो..."

"सुरेश, तुम जा सकते हो।"

सुरेश सहसा सकपका गया था। वह मा को जानता था। लेकिन उसने यह कल्पना नहीं की थी कि वह इतनी क्रूर भी हो सकती है। उसने मा की आंखों में आलू देखे थे। उसने मा का प्यार पामा था। बचपन में उसके तनिक-भी खोटा लग जाने पर मा निलमिता उठनी थी। परीक्षा में अग्र्यल आकर जब वह घर सीटता था तो हर्ष-विभोर वह रो आती थी। उसने कई बार सुरेश से कहा था, "सुरेश, क्या तू मुझे छोड़कर तो नहीं चला जाएगा?"

सुरेश सदा गर्म से भरकर उत्तर देता था, "नहीं मा, मैं तुम्हें छोड़कर नहीं जाऊंगा। मैं जहां भी जाऊंगा, तुम्हें साथ लेकर जाऊंगा।"

शायद दिनेश से भी मा इसी तरह पूछती होगी। शायद वह भी ऐसा ही उत्तर देना होगा। लेकिन एक दिन...  
सुरेश भी वही निश्चय दिया



या और उसने मां से कहा था, “मां, मुझे एक बार यह कह दो कि यह सब झूठ है।”

लेकिन मां ने और बहुत कुछ कहा था पर वह यह नहीं कह सकी थी कि यह झूठ है। मुझे ठीक याद है कि उसने एक-एक करके दो-तीन सांसें लीं। फिर एकाएक धीमे-धीमे गयी। वह न सुरेश से कुछ कह रही थी न अपने-आपसे। वस, यह योने जा रही थी जैसे शब्द अपने-आप उसके होंठों से फिसल रहे हों। जैसे शब्दों पर से उसका काबू हट गया हो। अन्त का एक शब्द ही समझ में आ सका। उसने कहा, “तुम मेरे बेटे हो, क्या इतना ही काफी नहीं है?”

सुरेश बोला, “काश कि इतना ही काफी होता ! काश, मेरे प्रमाण-पत्रों में पिता के स्थान पर मां का नाम लिखा होता ! पर मां, मैं उस झूठे पिता को नहीं सह सकता जो कायर था। उसमें इतनी हिम्मत नहीं थी कि वह अपनी पत्नी को अपनी बना सकता या फिर उसे छोड़ देता। नहीं तो कम से कम उसका गला घोटकर मार देता। वह स्वयं क्यों मरा ? नहीं, नहीं, मैं ऐसे पिता का पुत्र नहीं हो सकता। और जब कि यह सत्य है कि मैं उसका पुत्र नहीं हूँ, तो फिर मैं क्यों उस लाश को सदा-सर्वदा अपने ऊपर लादे फिरो ? मैं उससे मुक्ति पाना चाहता हूँ। और पाऊंगा। मैं लन्दन जा रहा हूँ। पम्मी भी जा रही। सब प्रबन्ध हो चुका है। हम फिर कभी लौटेंगे भी नहीं। ...”

सचमुच सुरेश जा रहा है। प्रमिला भी जा रही है। ताऊजी उनसे पहले ही चले गए। उनका शव बराबर के कमरे में रखा हुआ है। लेकिन सोचती हूँ कि लन्दन में रहकर भी क्या ये दोनों भाई इन शवों से मुक्ति पा सकेंगे ! शायद नहीं। ...

मेरी आंखों के आंसू और भी सूख गए। मेरे नासारन्ध्रों में शव की गन्ध भरने लगी है। भविष्य का ठण्डापन मुझे आ दबोचता है। मुझे लगता है, आकाश में शव ही शव मंडरा रहे हैं, मैं अपनी गर्दन को झटका देती हूँ। मैं अपने घर में अकेली ही पड़ गई हूँ। जैसे धीरे-धीरे सभी मर



रहे हैं। रात भी भर रही है। कुछ ही क्षणों में दरारों से उपा की रश्मियाँ झन्वर आएंगी। तार्डजी का चीत्कार सहस्र गुण होकर दीवारों को तोड़ देगा। समाज वाले आएंगे और फिर मुरेश चुपचाप ताऊजी का अन्तिम संस्कार करेगा। घायद कुछ लोग कानों ही कानों में कुछ बातें करेंगे। लेकिन तार्डजी का क्या होगा? वह विष जो उन्होंने शव तक अपने कण्ठ में धारण किया था क्या वह शव नीचे उतरकर उन्हें भस्म नहीं कर देगा? लेकिन मा को तो यह सोभाग्य भी नहीं मिलेगा। वह घायद इस तरह बैठी रहेगी। वह किसी बात का प्रत्युत्तर नहीं देगी। घुटनों में मुह भी नहीं छिपाएगी। घायद इसी तरह दान्य को देखती रहेगी। बस, देखती रहेगी।

सहसा देखती हू कि मुरेश मेरी ओर आ रहा है। वह उमी तरह घाभत और बूढ़ रहने की केप्टा कर रहा है। मेरे पास आकर वह कहता है, “जीजी, ऊपर चलो।”

मैं एकाएक जैसे रंगे श्राभी पकड़ी गई हू। हडबडा कर उठती हू। मुडते-मुडते वह फिर कटता है, “अच्छा है कि जीजी, तुम्हारी शादी हो चुकी है। फिर भी तुम तो मुझे माफ कर देना। मैं एक नहीं सक्ता।”

इससे पहले कि मैं उसकी बातों का अर्थ समझ सकूँ, वह चला जाता है। और मैं सन्तप्त-विमूढ़ नदखडाती हुई ऊपर ही चला पडती हू जिधर ताऊजी का शव रखा है और नाते-रिस्ते की घोरतें अपने याग्निक चीत्कारों में दर्द पैदा करने का विफल प्रयत्न कर रही हैं।



## एक और दुराचारिणी

---

कई दिनों से शरवती मेरे मन और मस्तिष्क पर छाई हुई है। नहीं जानता, उसके मां-बाप ने उसका नाम रखते समय उसकी आंखों में भांका था। वे सचमुच शरवती थीं। श्यामवर्णी शरवती की वाणी बुंदेलखण्ड की सहज मिठास से छलछलाती थी। कभी-कभी मुझे लगता था, वह इतना काम कैसे कर लेती है ! पर वह जितनी कोमल-मधुर है, उतनी ही पक्ष-कठोर भी।

सोचते-सोचते पाता हूं कि शरवती आंखों में उभर आती है। रोज देखता हूं कि वह तेज-तेज कदम धरती दूध लाती है, कांछा बांधे घर बुहारती है, एक वस्त्र पहनकर खाना बनाती है, बेबी को हंसाने के प्रयत्न में स्वयं भी हंसती है और फिर फूट-फूटकर रो पड़ती है। लेकिन इसके पूर्व कि कोई उसके आंसुओं को देख सके, वह उन्हें सुखा देती है। परन्तु शरवती की आंखों में पड़े वे लाल डोरे उसके छल को प्रकट कर ही देते हैं। और तब उनके पीछे से भांकती वेदना मुझे चीर-चीर देती है।

शरवती रोती क्यों है ? क्योंकि गत वर्ष उसके दोनों बच्चे दस दिनों के भीतर ही भीतर चेचक का शिकार हो गए थे; क्योंकि उसका पति शराब पी-पीकर निकम्मा हो गया है; क्योंकि उसकी ज़ालिम सास उसे पीटने के लिए बेटे को शराब पीने को प्रोत्साहित करती है।



वे गम्भी साराब पीने हैं। धीरे सावट उनही धीरेने पसन्द भी करती है, बजोति रिछने बने पति को लेकर यह हमारे पास आई थी और विवाह करत हुए बहू था। "मैं कहती हूँ, मैं साराब पीने को मना नहीं करती पर इनको दिया जिनको भेष मको। पी-पीकर अपने को गाने में क्या पावता !"

मैं दुगधी धीरे देखता रह गया था। क्या उसे पति का साराब पीना पसन्द है? या वह दुगधे समझीया बनना चाहती है? कुछ समझना बठिन मरी था पर बठिन था उन दोनों को समझा पाना। वह पीना था धीरे पीटना था। वह बिटवी थी पर उसे छोड़ नहीं पाती थी। कंगी है यह दोपट्टानी मन्थन? क्यों एक बार एक की होकर गारी उनसे मुरि नही पाना चाहती? क्या यह उसका आन्तरिक सहज विवाह है या समाजगत व्यवस्था का अन्तर्गत अर्थ? समाज का विरुद्ध क्या है? समाज माने की समर करने की दुष्टता, मनुष्य समर हाना चाहता है। क्या यह मात्र बायोमॉडिफिकेशन प्रदान है...

गहूना अभी पानी मूलाव ने धाकर कहा था, "मारने कुछ गुना !"

"किंग कारे मे ?"

"धरमनी के।"

मैं शन के गहूने भाग मे भय मे जाता, गिहूरा, फिर साग मन मुगबगकर मैने कहा, "क्यों, क्या हुआ उसको? क्या रामसरण धीरे उगधी मां मे उसे मात्र डामा?"

मूलाव शन मे बोली, "बहू है ही मरने लायक! कई दिनों मे संका थी, मात्र मही-मही पता लगा है।"

मैं मनकं हो उठा, बोला, "कुछ बहोमी भी, क्या हुआ?"

गृह्य मूलाव ने कहा, "बहू दुगधारिणी है।"

"दुगधारिणी, कौन धरमनी?"

"जी हाँ, वह भोषी-भाषी शनकी जिनकी प्रवृत्ति करने भाप नहीं समाने। पति धीरे मात्र के विरुद्ध जिनका भाव सदा पक्ष लेने है, वह



## १८८ मेरी प्रिय कहानियां

सचमुच दुराचारिणी है। और दुराचारिणी को प्रथम देना दुराचार को प्रथम देना है।”

“तुम्हारे पास इसका क्या प्रमाण है?”

मृणाल तड़पकर बोली, “मैं नारी हूँ। इतना ही प्रमाण क्या काफी नहीं है? हृदय का रहस्य ढूँढ़ निकालने में नारी की दृष्टि बड़ी पैनी होती है।”

इतना कहकर मृणाल विजय-गर्व से मुगकराई थी और उठकर अन्दर चली गई थी। मानो वहाँ प्रमाणों का ढेर लगा हुआ है और वह अभी उनमें से कुछ लाकर मेरे सामने बिखेर देगी। सोचने लगा, यही मृणाल है!

उस दिन तड़के ही मेरे साथ घूमने जाने को तैयार खड़ी थी तो बाहर शरवती के आने की सूचना मिली। आशंकित होकर उसने कहा, “इस असमय में वह क्यों आई? अवश्य कोई बात है।”

और सचमुच बात थी। बहुत आश्वासन देने पर रो-रोकर शरवती ने कहा था, ‘मैं अब आपके पास रहूँगी। घर का एक कोना मेरे लिए काफी है। मैं उनकी मार नहीं खा सकती। देखो तो, मां-बेटे ने मिलकर मुझे नीला कर दिया है!’

और वह फफक-फफककर रो उठी। मृणाल ने जैसे उस मार को अपने मन पर अनुभव किया। क्रुद्ध-कम्पित बोली, “हाय, उन दुष्टों ने बेचारी का क्या हाल कर दिया! राक्षस कहीं के! आप महाराज से कहकर उन्हें जेल में बन्द नहीं करवा सकते क्या?”

उस दर्द को मैं भी अनुभव कर रहा था। यदि मेरे सामने होते तो शायद मैं उन्हें गोली मार देने में भी संकोच न करता। पर आवेश के क्षण कभी स्थायी नहीं होते। उस दिन घूमना नहीं हो सका। मृणाल को वहीं छोड़कर मुझे शरवती के घर जाना पड़ा। पहले तो उसने रो-रोकर विरोध किया, बोली, ‘सौमन्ध खाकर आई हूँ, अब नहीं जाऊँगी!’

मैंने कहा, “कल को जब जाने को कहोगी तो बात कुछ और ही हो जाएगी।”



मृणाल ने तीब्रता से उसका पक्ष लिया परन्तु उसने फिर कुछ नहीं कहा। चुपचाप मेरे साथ चल पड़ी, क्योंकि वह जानती थी कि मैं उसे उसके ही घर ले जा रहा हूँ। उसके बाहर वह नहीं रह सकती। काश, वह रह सकती !

मृणाल ने तर्क किया था, "क्यों नहीं रह सकती ? तुम पुरुष हो, इस-लिए सहानुभूति और गमझोने की आँख लेकर उसके विद्रोह को दबा देना चाहते हो। बेचारी शरीर खटाकर घर-भर का पैट भरती है। उसके रक्त की कमाई को वे खराब बनाकर पी जाते हैं। घराल में वे उसका रक्त ही पीते हैं।"

मृणाल का वह रूप कम ही देखा था। नारी के अधिकारों के प्रति यह समाधारण रूप से समझ थी परन्तु उसे वामपन्थियों की भाषा का प्रयोग करते पहली ही बार सुना था। सुनकर अन्तरतम में सुन्न भी हुआ था, क्योंकि मैं शरवती की मुक्ति के लिए आतुर था। पर चाहता था कि वह मुक्ति प्रजित करे; दान-स्वरूप न पाए। परन्तु आज जब उसीके मुख से सुना कि शरवती दुराचारिणी है तो सचमुच हतप्रभ रह गया। स्त्री अचल है, उसके चरित्र के सम्बन्ध में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, फिर भी आज का उसका यह भद्दा रूप मुझे अच्छा नहीं लगा।

जब वह बहुत देर तक नहीं लौटी तो मेरे मन के आकाश पर आश-काशी के मेरु घिरने लगे—सचमुच क्या शरवती भी खराब पीने लगी है ? या वह किसीके साथ भाग गई है ?

यह विचार आते ही मन के अन्तराक्ष में सुन्न की सहूर-भी शीङ गई—उसी प्रकार जिस प्रकार दादी के मुख से दैत्य के महल में कैद राजकुमारी की मुक्ति की कहानी सुनकर खुशी होती थी। शरवती वही राजकुमारी है पर राजकुमार कौन है... ?

सहारा कल्पना-लोक से नीचे उतर आना पड़ा। मृणाल के वामपन्थी स्वर का लक्ष्य इस समय शरवती नहीं थी। तेज-तेज कदम मेरे पास आकर खोली, "जरा धीरे-धीरे शरवती से, अब तक कहा थी ?"



मैंने दृष्टि उठाई तो पाया, शरवती खड़ी है—भावशून्य, वस्तु। मैंने धीरे से कहा, “शरवती, देखता हूँ, कई दिनों से सन्ध्या को तुम देर से आती हो, यह ठीक नहीं है। ज़रा ध्यान रखा करो। अच्छा, जाओ।”

शरवती उसी क्षण मुड़ गई। और मैंने अनुभव किया कि मृणाल की आग्नेय दृष्टि उसे भस्म किए दे रही है। अन्दर चली गई तो उसने मुझसे कहा, “मैं नहीं समझती थोड़ा कि तुम मेरा इस तरह अपमान कर सकोगे। मैं उसे किसी भी शर्त पर घर में नहीं घुसने दूंगी।”

मैं तब भी अपनी झुंझलाहट छिपा गया। मुस्कराकर बोला, “सुनो, मृणाल, कहीं न कहीं हम सब दुराचारी हैं। मेरे बारे में क्या तुमने कभी कुछ नहीं सुना?”

किञ्चित् क्रुद्ध, किञ्चित् व्यंग्य से मृणाल बोली, “रहने दो अब उन बातों को! अपनी प्रसिद्धि का बखान सुनकर क्या करोगे!”

“कभी-कभी सुनने में अच्छा लगता है—विशेषकर अपनी पत्नी के मुख से!”

मृणाल मुसकराई, “देखो जी, अब तुम वह नहीं हो जो मेरे आने के पहले थे।”

“तुम्हारे पास इसका क्या प्रमाण है?”

“मेरी आंखें।”

वह मुसकराई। पर मुझे इस दावे से सुख नहीं मिला। अपनी पराजय ही अधिक लगी। फिर भी कहना पड़ा, “तुम ठीक कहती हो।”

मृणाल गर्व से बोली, “इसीलिए तो मैं कहती हूँ कि मेरी आंखें धोखा नहीं खा सकतीं। उस दुराचारिणी को अब जवाब देना ही होगा।”

नारी जब गर्व करती है तो उसका सौन्दर्य म्लान पड़ जाता है। अपनी पराजय के कारण मैं तब सुखी नहीं हो सका। किसी तरह साहस बटोरकर मैंने धीरे से कहा, “अच्छा।”

मन का भय मुख पर ही नहीं, अंग-अंग में प्रकट हो चला था। उस समय वह और भी सघन हो उठा जब सन्ध्या को मैंने मृणाल को भ्रमण के



लिए सैदाह पाया। उसके मयनों में ऐसी सीपि थी जैसी गिहारी के मयनों में गिरकार हो या जाने के बाद होती है। गान्धर्व बनधी की लोभा-ली उगरी गारी, बलिहार के दुस्त्रो-ने उनके कुण्डल, दिन की वसात के फूलने के थे। सीपि ही हम सब निमित्त कुत्रों से हाँकर उठा घाट की घोर जा गिरने। उपर से दुबे, जगनी मूषर, स्वर्ण मूष, सभी छाते हैं। पर सभी सावहार दूर या घोर रात्रमहल तक पहुँचने तक बन-गुरुओं के उपर या निबलने की छाया मरी थी। लदी में कम भी कम था—विनागर मगम के पास। मुठेनगद की नदियों बहूत उपलब्ध नहीं है। अथवा बिगोरी के समान पीडा-बोभुक में उनही बिगो रवि है। उम समय उस बन-भाग में छा-ि थी। केवल बिगोरी का बट मगीत घोर नदियों का बन-बन बाधुद मोभा के मयनाम की पुनक से भर रहा था। सुप्र-मम मीने कहा, “आलो, मुणाप, कुछ दर नहीं बँटेंगे।”

मुणाप बोली, “न, आज नहीं। मुझे उपर रायदगाद बनाने में कुछ काम है।”

‘तो...’

“बहु सब नहीं समझाभी कर रहा होगा।”

“पर उगे तो मैं कम पर पर बुना सब गा हूँ।”

“गरी- नही, मुझे सभी एक आराधक काम दार का मना है। अतिए, फिर सबेरा ही आएगा।”

गरी की पराजय के प्रभाव से सभी दुर्म ७१ न मूक नहीं हुआ था। दगदगु लगी घोर बह गया। मर में जेप था पर मैं नहीं बहना था कि मुझपर कोई यह माता मगाह कि मैं अपनी सभी पर घोर उनके माध्यम से नारीवास पर आजाचार करना हूँ।

बनारसे की जोड़ी मायने दिखाई देने लगी थी। दाग आर ह दाया कि बहा बोई नहीं है परानु बहो से किसीके जाने का बा बर बहा ऐसे बह रहा है जैसा कोई की अतिरिक्त बहूत घोर-घोरे पर बहादुर बहात से जाने कर रहे हो। मुनाप मुगबराई, बोली, “दुखी।”



## १६२ मेरी प्रिय कहानियाँ

अनजान बनकर मैंने कहा, “क्या ?”

“सपनी शरवती की बाणी !”

मेरे सामने एक धापादमस्तक सिहर उठा। मन्दवन् मेरी दृष्टि मृणाल के मृग पर भूष गई। यह अब पूर्ण शान्त थी। और चीते की तरह मोन मन्दर गर्भ में स्पर्श की दिशा में नट रही थी। मोहमस्त-सा मैं तब भी वहीं खड़ा रहा। परन्तु तभी उसने मृदुकर मुझे आने का संकेत किया। प्रोर में सहज भाव में घमने की क्षण नाने के ऊपर जाकर खड़ा हो गया। भाँककर क्या देगली तुँ कि नीचे एक बड़े में परवर पर बनरखा रामप्रसाद बैठा है और उसमें निमग्न मर्दा, कहना होगा उसके वक्ष पर झुकी, शरवती बैठी है। यन्त्रों का ज्ञान नहीं, मन का ज्ञान नहीं, बस भावाकुल भीगे नेत्रों से एकटक रामप्रसाद के मृग को देगली हुई धीरे-धीरे कुछ कह रही हैं। उस शान्त प्रदेश में वे मन्दर निमग्न की बाणी की तरह मेरे हृदय में सीधे प्रवेश कर जाते हैं। पहचान सकता हूँ, यह शरवती का स्वर है। कोमल-मधुर। “नहीं, मैं अब उमके बच्चों की माँ नहीं बनना चाहती। माँ बनना और फिर गला पोट देना... वह मेरा ही गला क्यों नहीं घोट देता !”

अब रामप्रसाद का स्वर है। उसने शरवती के बलान्त-वस्त शरीर को वनिष्ठ भुजा में दबा लिया है। कहता है, “इतनी दुखी मत हो, यह सब तो भगवान की माया है !”

“भगवान क्या इतने क्रूर हैं ?”

मौन।

“बोलो ?”

“नहीं, भगवान क्रूर नहीं होते पर...”

“न, न, मैं नहीं मानती... मैं नहीं मानती।”

फिर एक क्षण मौन रहा। पाया, शरवती रो रही है। बनरखे ने धीरे से उसका मुख ऊपर उठाकर उसके आँसू पोंछ दिए और...

तभी वह भटके के साथ उठ खड़ी हुई। व्यग्र-सी बोली, “ओह देर हो गई ! बीबीजी आज फिर नाराज होंगी !”



यह फिर बरखे का स्वर है, "न, न, दो क्षण और बैठो। तुम्हारी बोझीली क्या तुम्हारे दुःख को नहीं पहचानती?"

"पहचानती है फिर भी देर होने पर नाराज तो हुआ ही करते हैं। नहीं। अब जाने दे। कल भाऊगी।"

"मुन, तू उसे छोड़ क्यों नहीं देती?"

यह शरवती का स्वर है, "तब उसकी मा ही उसे मार डालेगी।"

"तो मरे!"

"नहीं... नहीं, वह मुझे ब्याहकर लाया है।"

"मार डालने के लिए तो नहीं।"

यह फिर शरवती का स्वर है, "मेरी कुछ समस्या में नहीं आता। मैं तुम्हें चाहती हूँ। तुम्हारे पास मुझे दो क्षण का मुख मिलता है। मैं उसे भी छोड़ नहीं पाती..."

और फिर एकाएक उससे सट गई। उसकी शरवती आंखों में जन्माद-सा छलक पड़ा। मुझे जैसे किसीने पीछे पकड़कर खींचा हो। मुड़कर देखता हूँ, मृणाल दूसरी ओर देखती हुई मूर्तिवत् खड़ी है। उसका चेहरा राख हो गया है। वह जल्दी-जल्दी मुझे खींच रही है। सड़क पर पहुँचकर ही सत्ता सीटी। पुकारा, "मृणाल!"

अब मृणाल ने दृष्टि मेरी ओर घुमाई। देखता हूँ, आँखों से आँसू झरे जा रहे हैं। एकाएक सोचता हूँ, क्या ये शरवती के आँखें ही नहीं हैं?







